सम्पादकीय

जैन दर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एव तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा और आत्मा की विविध दशाओ, स्वरूपो का विवेचन एव उसके परिवर्तनो का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिये जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थो मे 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्व रखते है। जैन साहित्य में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तत्व जिज्ञासु भी कर्मग्रन्थो को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एव स्वाध्याय की वस्तु मानते है।

कर्मग्रन्थो की सस्कृत टीकाए वडी महत्वपूर्ण है। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके है। हिन्दी मे कर्मग्रन्थो का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ प० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एव विद्वत्ताप्रधान है। प० सुखलालजी का विवेचन आज प्राय. दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी म० की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थो का आधुनिक शैली मे विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एव निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य वडी गति के साथ आगे वढता गया। श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय मे आकार धारण करने योग्य वन गया।

इस सपादन कार्य मे जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखको, टीकाकारो, विवेचन कर्त्ताओ तथा विशेषत: प० सुखलाल जी के ग्रथो का सहयोग प्राप्त हुआ

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य वन सका। मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूं।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजतमुनिजी एव श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एव साहित्यसमिति के अधिकारियों का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के सपादन-प्रकाशन मे गतिशीलता आई है, मै हृदय से आभार स्वीकार करू—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन मे कही त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि मे अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मै क्षमाप्रार्थी हूं और, हस-बुद्धि पाठको से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेगे। भूल सुधार एवं प्रमाद-परिहार मे सहयोगी वनने वाले अभिनन्दनीय होते है। वस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आ मु ख

जैन दर्शन के सपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतत्र शक्ति है। अपने सुख-दुख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वय मे अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान वनकर अशुद्ध दशा मे ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। स्वय परम आनन्द स्वरूप होने पर भी सुख-दुख के चक्र मे पिस रहा है। अजर अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह मे वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुखी, दरिद्र के रूप मे ससार मे यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैन दर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार मे भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरश. सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटना चक्रो मे प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनो ने इस विश्ववैचित्र्य एव सुख-दुख का कारण जहा ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुख एव विश्ववैचित्र्य का कारण मूलत जीव एव उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतत्र रूप से कोई शक्ति नही है, वह स्वय मे पुद्गल है, जड है। किन्तु राग-द्वेप वश-वर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने वलवान और शक्तिसपन्न वन जाते है कि कर्त्ता को भी अपने वधन मे वाध लेते है। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते है। यह कर्म की वडी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनो का यह मुख्य वीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते है? यह वड़ा ही गम्भीर विषय है।

जैनदर्शन मे कर्म का वहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यत गहन विवेचन जैन आगमों मे और उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। वह प्राकृत एव सस्कृत भापा मे होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्वोध है। थोकडो मे कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यो ने गूथा है, कठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थो मे कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पाच भाग अत्यत ही महत्त्वपूर्ण है। इनमे जैनदर्शन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भापा मे है और इसकी सस्कृत मे अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध है। गुजराती मे भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भापा मे इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीपी प० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्प पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान मे कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली मे भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एव श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी म० सा० से कई वर्षो से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढग से विवेचन एव प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर सत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एव व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते है। गुरुदेव श्री का भी इस ओर आकर्पण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमे भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक सस्थाओ व कार्यक्रमो का आयोजन ! व्यस्त जीवन मे आप १०-१२ घटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र,स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि मे लीन रहते है। गत वर्प गुरुदेव श्री ने इस कार्य को आगे वढाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियो से सुन्दर एव रुचिकर वनाने तथा फुटनोट, आगमो के उद्धरण सकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यो का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौंपा गया।

श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एवं विचारो से अतिनिकट सम्पर्क मे है। गुरुदेव के निर्देशन मे उन्होने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन मे एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सास्कृतिक एव दार्शनिक निधि नये रूप मे मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय मे विशेष रुचि है। मै गुरुदेव को तथा सपादक बन्धुओं को इसकी सपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम व द्वितीय भाग के पश्चात् यह तृतीय भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

पहले के दो भाग जिज्ञासु पाठको ने पसन्द किये है, उनके तत्त्वज्ञान-वृद्धि मे वे सहायक बने है, ऐसी सूचनाए मिली है। आशा है प्रथम व द्वितीय भाग की तरह यह तृतीय भाग ज्ञानवृद्धि मे अधिक उपयोगी बनेगा।

—सुकन मुनि

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यो मे एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैन धर्म एव दर्शन से सम्वन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। सस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी म० स्वयं एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ है और उन्ही के मार्गदर्शन मे सस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियां चल रही हैं। गुरुदेव श्री साहित्य के मर्मज्ञ भी है, अनुरागी भी है। उनकी प्रेरणा से अव तक हमने प्रवचन, जीवनचरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थो का प्रकाशन किया है। अव विद्वानो एव तत्त्वजिज्ञासु पाठको के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे है।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान ग्रथ है। इसमे जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन मे प्रसिद्ध लेखक-सपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एव उनके सहयोगी श्री देव-कुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजत-मुनि जी एव विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीमान् घीसूलाल जी मोहनलालजी सेठिया, मैसूर एव श्रीमान् सेठ भैरुमल जी राका, सिकन्द्रावाद के अर्थ सौजन्य से किया जा रहा है। हम सभी विद्वानो, मुनिवरो एव सहयोगी उदार गृहस्थो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते है कि अतिशीघ्र क्रमश. अन्य भागो मे हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठको की सेवा मे प्रस्तुत करेगे। प्रथम व द्वितीय भाग कुछ समय पूर्व ही पाठको के हाथो मे पहुँच चुका है। विद्वानो एव जिज्ञासु पाठको ने उसका स्वागत किया है। अव यह तृतीय भाग पाठको के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत, मन्त्री—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

आभार दर्शन

प्रस्तुत कर्मग्रन्थ, तृतीय भाग के प्रकाशन में निम्न उदार दानदाताओं का सहयोग प्राप्त हुआ है।

१ श्रीमान घीसूलालजी मोहनलालजी सेठिया,
मैसूर (मारवाड-भावी)

२ श्रीमान सेठ भैरुंमलजी रांका
सिकन्दराबाद (आ. प्र.)

हम उक्त सज्जनों ने अनुकरणीय सहयोग के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते है।

मत्री

—श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

अनुक्रमणिका

प्र स्ता व ना

कर्मग्रन्थो मे जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान इन तीन प्रकारो (द्वारो) द्वारा ससारी जीवो की विविधताओ, विकासोन्मुखता आदि का क्रमबद्ध धारावाहिक रूप मे विवेचन हुआ है। इन तीनो मे से जीवस्थान के द्वारा ससारी जीवो की शारीरिक आकार-प्रकार की विभिन्नता बतलाई जाती है। गुणस्थानो मे आत्मा की सघन कर्मावृत दशा से लेकर परम निर्मल विकास की उज्ज्वल एव सर्वोच्च भूमिका तक विकासोन्मुखी क्रमबद्ध श्रेणियो का कथन है और मार्गणास्थान मे आत्मा की दोनो स्थितियो का, बाह्य (शारीरिक) और आन्तरिक (आत्मिक) भिन्नताओ, विविधताओ का वर्गीकरण करते हुए विवेचन किया गया है। इस दृष्टि से देखे तो मार्गणास्थान मध्य द्वार (देहली)-दीपक न्याय के समान जीवस्थान के शारीरिक—बाह्य और गुणस्थान के आत्मिक—आन्तरिक दोनो प्रकार के कथनो को अपने मे गर्भित करता है।

इसके अतिरिक्त मार्गणास्थान की अपनी एक और विशेषता है कि जीवस्थान सिर्फ जीवो के बाह्य-प्रकारो, विविधताओ का कथन करता है और गुणस्थान आत्मा के क्रमभावी विकास की क्रमिक अवस्थाओ की सूचना करते है और उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध नही है, वे क्रमभावी होते है, लेकिन मार्गणास्थान सहभावी है। इनका जीवस्थानो के साथ भी सम्बन्ध है और गुणस्थानो के साथ भी। दोनो प्रकार की भिन्नताओ वाले जीवो का किसी न किसी मार्गणास्थान मे अवश्य अन्तर्भाव—समावेश हो जाता है।

मार्गणा का लक्षण

संसार मे अनन्त जीव है और उन जीवो के बाह्य व आन्तरिक जीवन की निर्मिति मे अनेक प्रकार की विचित्रता, विभिन्नता, पृथक्ता का दर्शन होता है। शरीर के आकार-प्रकार, रूप-रग, इन्द्रिय रचना, हलन-चलन, गति, विचार, बौद्धिक अल्पाधिकता आदि-आदि अनेक रूपो मे एक दूसरे जीव मे भिन्नता

दृष्टिगत होती है। यह भिन्नता इतनी अधिक है कि समस्त जीव जगत विभिन्नताओ का एक आश्चर्यजनक सग्रहालय (अजायवघर) प्रतीत होता है।

जीव जगत की विभिन्नताये इतनी अनन्त है कि एक ही जाति के जीवो की भी परस्पर एक दूसरे से तुलना नही की जा सकती है। हम अपनी मनुष्य-जाति को देख ले। सवके हाथ-पैर आदि अग-उपाग हैं, लेकिन आकृति समान नही है, कोई लम्वा है तो कोई ठिगना, कोई गौर वर्ण है तो कोई कृष्ण वर्ण आदि। यह तो हुई शारीरिक दृष्टि की विभिन्नता, लेकिन वौद्धिक दृष्टि की विभिन्नता का विचार करे तो किसी की वुद्धि मन्द है और कोई कुशाग्र वुद्धि, और इसके वीच भी अनेक प्रकार की तरतमता देखने मे आती है। इसीप्रकार की अन्यान्य विभिन्नताये हम प्रतिदिन देखते है, अनुभव करते है। जव एक मनुष्यजाति मे भी अनेकताओ की भरमार है तो अन्य पशु, पक्षी, देव, नारक के रूप मे विद्यमान जीवो मे रहने वाली भिन्नताओ की थाह लेना कैसे सम्भव हो सकता है? फिर भी अध्यात्म विज्ञानी सर्वज्ञो ने इन अनन्त भिन्नताओं का मार्गणा के रूप मे वर्गीकरण करते हुये मार्गणा का लक्षण कहा है—

जीवस्थानो और गुणस्थानो मे विद्यमान जीव जिन भावो के द्वारा अथवा जिन पर्यायो के द्वारा अनुमार्गण किये जाते है—खोजे जाते है, उनकी गवेषणा, मीमासा की जाती है, उन्हे मार्गणा कहते है।

इस गवेषणा के कार्य को सरल और व्यवस्थित रूप देने के लिए मार्गणा स्थान के चौदह विभाग किये हैं और इन चौदह विभागो के भी अवान्तर विभाग है। इनके नाम और अवान्तर भेदो की सख्या नाम आदि यथास्थान इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र दिये गये है जिनमे समस्त जीवों की वाह्य एव आन्तरिक जीवन सम्वन्धी अनन्त भिन्नताएं वर्गीकृत हो जाती है।

इस तृतीय कर्म ग्रन्थ मे मार्गणाओ के आधार से गुणस्थानो को लेकर वन्ध-स्वामित्व का कथन किया गया है अर्थात् किस-किस मार्गणा मे कितने गुण-स्थान सम्भव हैं और उन मार्गणावर्ती जीवो मे सामान्य से तथा गुणस्थानो के विभागानुसार कर्मवन्ध की योग्यता का वर्णन किया गया है।

विभिन्नताओ का कारण

अव प्रश्न यह है कि जीवो मे विद्यमान विभिन्नताओ, विविधताओ का

कारण क्या है ? इस 'क्या' का समाधान करने लिए विभिन्न दार्शनिको, चिन्तको ने अपने-अपने विचार एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत किये है, जिनका सकेत श्वेताश्वेततरोपनिषद् १/२ के निम्नलिखित श्लोक मे देखने को मिलता है—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानियोनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न स्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःख हेतोः ॥

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथिव्यादि भूत और पुरुष—ये विभिन्नता के कारण है। जीव स्वय अपने सुख-दु ख आदि के लिए असमर्थ है, वह पराधीन है। इसीप्रकार से अन्य-अन्य विचारो ने अपने-अपने दृष्टिकोण उपस्थित किये है। यदि उन सव विचारो का सकलन किया जाये तो एक महा निवन्ध तैयार हो सकता है। लेकिन यहाँ विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे कारणो के रूप मे निम्नलिखित विचारो के वारे मे चर्चा करते हैं—

१ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ यदृच्छा, ५ पौरुप, ६ पुरुष (ईश्वर)।

ये सभी विचार परम्पर एक दूसरे का खडन एव अपने द्वारा ही कार्य सिद्धि का मडन करते है। इनका दृष्टिकोण क्रमश. नीचे लिखे अनुसार है।

कालवाद—यह दर्शन काल को मुख्य मानता है। इस दर्शन का कथन है कि ससार का प्रत्येक कार्य काल के प्रभाव से हो रहा है। काल के विना स्वभाव, पौरुप आदि कुछ भी नही कर सकते है। एक व्यक्ति पाप या पुण्य कार्य करता है, किन्तु उसी समय उसका फल नही मिलता है। योग्य समय आने पर उसका अच्छा या वुरा (शुभ-अशुभ) फल मिलता है। ग्रीष्म काल मे सूर्य तपता है और शीत ऋतु मे शीत पडता है। इसी प्रकार मनुष्य स्वय कुछ नही कर सकता है किन्तु समय आने पर सव काय यथायोग्य प्रकार से होते जाते है। यह सव काल की महिमा है। कालवाद का दृष्टिकोण यह है—

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजा ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालोहि दुरतिक्रमः ॥[1]

---

१ महाभारत १/२४८

काल ही समस्त भूतो की सृष्टि करता है, सहार करता है। काल के प्रभाव से प्रजा का सकोच-विस्तार होता है। सभी के सो जाने पर भी काल सदैव जाग्रत रहता है। इसीलिए दुरतिक्रम काल ही इस ससार की विचित्रता, विविधता और जीवो के सुख-दुख आदि का मूल कारण है।

स्वभाववाद—स्वभाववाद का अपना अनूठा ही दृष्टिकोण है। उसके अपने तर्क है। वह कहता है कि ससार मे जो कुछ भी कार्य हो रहे है, वे सब अपने-अपने स्वभाव के प्रभाव से हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, नियति आदि कुछ भी नही कर सकते हैं। आम की गुठली मे आम होने का स्वभाव है, इसीलिये उससे आम का वृक्ष और फल प्राप्त होता है और नीम की निम्बोली मे नीम का वृक्ष होने का स्वभाव है। नीम कडवा और ईख मीठा क्यो है? तो इसका कारण उन-उनमे विद्यमान स्वभाव है। स्वभाववाद के विचारो के लिये निम्नलिखित उद्धरण उपयोगी है—

यः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥[1]

काटो का नुकीलापन, मृग व पक्षियो मे चित्रविचित्र रग आदि होना स्वभाव से है। अन्य कोई कारण इस सृष्टि के निर्माण आदि का नही दिखता है। सब स्वाभाविक है—निर्हेतुक है, अन्य के प्रयत्न का इसमे सहयोग नही है।

नियतिवाद—प्रकृति के अटल नियमो को नियति कहते है। नियतिवाद का कहना कि जिसका जिस समय मे जहाँ जो होना है, वह होता ही है। सूर्य पूर्व से उदित होगा, कमल जल मे उत्पन्न होगा, गाय, बैल आदि पशुओ के चार पैर और मनुष्य के दो हाथ, दो पैर होगे। ऐसा क्यो होता है? तो इसका एकमात्र कारण ऐसा होना नियत है। मखलि गोशालक इसी नियतिवाद का अनुगामी था। उसका मत था कि प्राणियो के क्लेश आदि के लिये कोई हेतु नही, प्रत्यय नही, बिना प्रत्यय, बिना हेतु ही प्राणी सुख-दुख, क्लेश पाते

---

१ सूत्रकृताग टीका

है आदि[1]। नियतिवादी दृष्टिकोण के सवध मे सूत्रकृताग टीका १/१/२ मे सकेत किया गया है—

प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽथः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभाऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाश ॥

मनुष्यो को नियति के कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है, वह अवश्य प्राप्त होता है। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, लेकिन जो नही होना है, वह नही ही होगा और जो होना है, उसे कोई रोक नही सकता है। सव जीवो का सव कुछ नियत है और वह अपनी स्थिति के अनुसार होगा।

यदृच्छावाद—जिस विपय मे कार्यकारण परम्परा का सामान्य ज्ञान नही हो पाता है, उसके सम्वन्ध मे यदृच्छा का सहारा लिया जाता है। यदृच्छा यानी अकस्मात ही कार्य-कारण का सम्वन्ध न जुडने पर नवीन कार्य की उत्पत्ति हो जाना। यदृच्छा मे एक प्रकार की उपेक्षा की भावना झलकती है, उसमे कार्य-कारण भाव आदि पर विचार करने का अवसर नही है।

पौरुषवाद—पुरुषार्थ, प्रयत्न आदि इसके दूसरे नाम है। पुरुषार्थवाद का अपना दर्शन है। उसका कहना है कि ससार के प्रत्येक कार्य के लिये प्रयत्न होना जरूरी है। विना पुरुपार्थ के कोई भी कार्य सफल नही होता है। ससार मे जो कुछ भी उन्नति होती है, वह सव पुरुपार्थ का परिणाम है। यदि पेट मे भूख मालूम पडती है तो उसकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना पडेगा, भूख की शाति विचारो से नही हो जायेगी। ससार मे जितने भी पदार्थ है, उनका स्वभाव आदि अपना-अपना है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति पुरुपार्थ के विना नही हो सकती है। इसीलिये कहा है—

कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्द हेतोः।

मुक्ति-सुख की प्राप्ति के लिये पुरुपार्थ करो ! पुरुपार्थ करो !

उक्त वादो के अलावा सवसे प्रमुख वाद है—पुरुपवाद—ईश्वरवाद। ईश्वरवाद के अतिरिक्त पूर्वोक्त विचारधारायें तो अपने-अपने चिन्तन तक

---

१ मज्झिम निकाय २/३/६ मे नियतिवाद का वर्णन किया गया है।

सीमित रही और ईश्वरवाद के विशेष प्रभावशाली वन जाने पर एक प्रकार से विलुप्त-सी हो गई और प्रमुख रूप से ईश्वर को ही इस लोक-वैचित्र्य एवं जीवजगत के सुख-दुःख आदि का कारण माना जाने लगा।

पुरुषवाद—सामान्यत पुरुष ही इस जगत का कर्ता, हर्ता और विधाता है—यह मत पुरुषवाद कहलाता है। पुरुषवाद मे दो विचार गर्भित हैं—एक ब्रह्मवाद और दूसरा ईश्वरकर्तृत्ववाद। ब्रह्मवाद मे ब्रह्म ही जगत के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि सभी पदार्थों का उपादान कारण है और ईश्वरवाद मे ईश्वर स्वयसिद्ध जड-चेतन पदार्थों के परस्पर सयोजन मे निमित्त वनता है। उपादान कारण और निमित्त कारण के द्वारा ब्रह्म और ईश्वर यह दो भेद पुरुषवाद के हो जाते है।

ब्रह्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे मकडी जाले के लिये, वटवृक्ष जटाओ के लिये कारण होता है, उसी तरह पुरुष समस्त जगत के प्राणियो की सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कारण है।[1] जो हुआ है, जो होगा जो मोक्ष का स्वामी है, आहार से वृद्धि को प्राप्त होता है, गतिमान है, स्थिर है, दूर है, निकट है, चेतन और अचेतन सबमे व्याप्त है और सबके वाह्य है, वह सव ब्रह्म ही है। इसलिये इसमे नानात्व नही है, लेकिन जो कुछ भी दिखता है वह ब्रह्म का प्रपच दिखता है और ब्रह्म को कोई नही देखता है।[2]

---

१ ऊर्णनाम इवाशूना चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्ष स हेतु सर्व जन्मिनाम्॥

—उपनिषद्

२ क—पुरुष एवेद सर्व यद्भूत यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशाना यदन्नेनाति रोहति॥

—ऋग्वेद पुरुषसूक्त

ख—यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदन्तिके।
यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य वाह्यत॥

—ईशावास्योपनिषद्

ग—सर्व वै खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आराम तस्य पश्यन्ति न त पश्यति कचन॥ —छन्दोग्य उ० ३।१४

ईश्वरवाद मे ईश्वर को जगत मे उत्पन्न होने वाले पदार्थो, जीवो को सुख-दु ख देने आदि के प्रति निमित्त माना है। इस विचार की पुष्टि के लिये वह कहता है कि स्थावर और जंगम (जड-चेतन) रूप विश्व का कोई पुरुप विशेप कर्ता है। क्योकि पृथ्वी, वृक्ष आदि पदार्थ कार्य है और इनके कार्य होने से किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा निर्मित है, जैसे कि घट आदि पदार्थ। पृथ्वी आदि भी कार्य है अत. इनको बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाया हुआ होना चाहिये और इनका जो बुद्धिमान कर्ता है, उसी का नाम ईश्वर है।

सृष्टि के निर्माण की तरह ईश्वर ससार के प्राणियो को सुख-दु.ख देने, उन्हे स्वर्ग-नरक आदि प्राप्त कराने मे कारण है। ससार के जीव तो दीन, और परतन्त्र है, वे तो ईश्वर की आज्ञा एव प्रेरणा से सुख-दु ख का अनुभव करते है—

> **अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुखयोः।**
> **ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥**[१]

इसीप्रकार अन्यान्य विचारको ने जगत-वैचित्र्य के सम्वन्ध मे अपने-अपने विचार व्यक्त किये है और उन विचारो का मण्डन कर दूसरो के विचारो का खडन किया है। इस खडन-मडन का परिणाम यह हुआ कि साधारण जनो मे भ्रान्तिया उत्पन्न हो गई और जो विचार सत्य को समझने-समझाने मे सहायक वन सकते थे वे समन्वय के अभाव मे सत्य के मूल मर्म को प्राप्त करने मे अस-मर्थ हो गये।

लोक-वैचित्र्य : जैन दृष्टि

लेकिन भगवान महावीर ने लोक-वैचित्र्य के उक्त विचारो के सघर्प का समाधान किया। यह समाधान दो प्रकार से किया गया। जिन विचारो का समन्वय किया जा सकता था उनका समन्वय करके और जिन विचारो की उपयोगिता ही नही थी उनका सयुक्तिक खडन और विचित्रता के मूल कारण

---

२ महाभारत वनपर्व

का सकेत करके ससार के सामने उस सत्य को रखा जो जीवन-निर्माण के लिये उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करता है ।

पूर्व मे यह सकेत किया जा चुका है कि लोक मे दो प्रकार के पदार्थ है—सचेतन और अचेतन । इन दोनो प्रकार के पदार्थो मे वैचित्र्य, वैविध्य परिलक्षित होता है । जहाँ तक अचेतन पदार्थगत विचित्रताओ एव आशिक रूप से सचेतन तत्व की विविधताओ का सम्वन्ध है, उनके वारे मे जैन दृष्टि का यह मतव्य है कि काल आदि वादो का समन्वय कारण है । किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण से नही हो जाती किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति के लिये आवश्यक सभी कारणो के मिलने पर आश्रित है । ऐसा कभी नही होता है कि एक ही शक्ति अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे । हाँ यह हो सकता है कि किसी कार्य मे कोई एक प्रधान कारण हो और दूसरे गौण, किन्तु यह नही होता कि कोई अकेला स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे ।

यह कथन सयुक्तिक एवं प्रत्यक्ष है । आबाल वृद्ध जन साधारण इसी प्रकार का अनुभव करते है एवं प्रतीति भी इसी प्रकार की होती है । लेकिन पुरुषवाद—ब्रह्मवाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद—तो लोक के सचेतन या अचेतन पदार्थो की विचित्रताओ और विविधताओ का किसी भी रूप मे—मुख्य या गौण रूप मे कारण नही वनता है । क्योकि जिस रूप मे ब्रह्म और ईश्वर के स्वरूप को माना गया है, उस रूप मे उसकी सिद्धि नही होती है और उनके महत्व को हानि ही पहुंचती है । लोक के सवन्ध मे पुरुषवाद की धारणा का पूर्व मे यत्किंचित् सकेत किया है, लेकिन उस धारणा की निरर्थकता वतलाने के लिये यहाँ कुछ विशेष विचार करते है ।

पुरुषवाद का प्रथम रूप ब्रह्मवाद है और उसका यह पक्ष है कि एक ब्रह्म ही सत् है, उसके नानारूप नही है, लेकिन जो कुछ भी नानारूपता हमे दिखलाई देती है वह सव प्रपंच है, यानी ब्रह्म का माया रूप है, लेकिन ब्रह्म स्वयं किसी को दिखलाई नही देता है और यह प्रपंच मिथ्या रूप है, क्योकि उसमे मिथ्यारूपता प्रतीत होती है । जो मिथ्यारूप प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, असत् है जैसे सीप के टुकडे मे चांदी की मिथ्या प्रतीति होती है । उसी

प्रकार यह दृश्यमान जगत-प्रपच मिथ्या प्रतीत होता है, इसीलिये वह मिथ्या है। इसका अपरनाम ब्रह्माद्वैतवाद है।

लेकिन जब ब्रह्मवाद के उक्त मतव्य को तर्क की कसौटी पर परखते है तो वह उपहसनीय-सा प्रतीत होता है। प्रथम तो यह कि यह प्रपच रूप जगत यदि ब्रह्म की माया है तो यह माया ब्रह्म से भिन्न है, या अभिन्न। भिन्न मानने पर ब्रह्म और माया इन दो पदार्थो का सद्भाव मानना पडेगा। उस स्थिति मे यह नही कहा जा सकता है कि मात्र एक ब्रह्म ही है, अद्वैत है। यदि माया और ब्रह्म अभिन्न है तो इस जागतिक प्रपंच की मायारूपता सिद्ध नही होती है। यदि कहा जाये कि माया सत्‌रूप है तो ब्रह्म और माया इन दो पदार्थो का सद्भाव होने से अद्वैत की सिद्धि नही होती है। माया को असत् माना जाये तो तीनो लोको के पदार्थो की उत्पत्ति नही हो सकती है।

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि ब्रह्म रूप एक ही तत्त्व विभिन्न पदार्थो के परिणमन मे उपादान कैसे बन सकता है? जगत के समस्त पदार्थो को माया कह देने मात्र से उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व व व्यक्तित्व नष्ट नही किया जा सकता है। उनका व्यक्तित्व, अस्तित्व अपना-अपना है। एक भोजन करता है तो दूसरे को तृप्ति नही हो जाती है। एक जीव का सुख सबका सुख नही माना जा सकता है। अत जगत के अनन्त जड-चेतन सत् पदार्थो का अपलाप करके केवल एक पुरुष को अनन्त कार्यो के प्रति उपादान मानना काल्पनिक प्रतीत होता है ओर कल्पना से रमणीय भी मालूम होता है। जगत के पदार्थो मे सत् का अन्वय देखकर एक सत् तत्व की कल्पना करना और उसे ही वास्तविक मानना प्रतीतिविरुद्ध है।

इस अद्वैतैकान्त की सिद्धि यदि अनुमान आदि प्रमाण से की जाती है तो हेतु और साध्य इन दो के पृथक्-पृथक् होने से अद्वैत की बजाय द्वैत की सिद्धि होती है तथा कारण-कार्य का, पुण्य-पाप का, कर्म के सुख-दु ख फल का, इहलोक-परलोक का, विद्या-अविधा का बन्ध-मोक्ष आदि का वास्तविक भेद ही नही रहता है। अत. प्रतीतिसिद्ध जगतव्यवस्था के लिये ब्रह्मवाद का मानना उचित नही है।

पुरुषवाद का दूसरा रूप है ईश्वरवाद—ईश्वरकर्तृत्ववाद। इस जगत-व्यापिनी विचित्रता का कर्ता ईश्वर है, यह ईश्वर कर्तृत्ववाद का साराश है। ईश्वर की महानता वतलाते हुए ईश्वरवादी कहते है कि वह अद्वितीय है, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य है और ईश्वर के लिये प्रयुक्त इन विशेपणो का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—

ईश्वर एक है—यानी अद्वितीय है। क्योकि यदि वहुत से ईश्वरो को सँसार का कर्ता माना जायेगा तो एक दूसरे की इच्छा मे विरोध होने पर एक वस्तु के अन्य रूप मे भी निर्माण होने पर ससार मे ऐक्य व क्रम का अभाव हो जायगा।

ईश्वर सर्वव्यापी है—यदि ईश्वर को नियत देशव्यापी माना जाये तो अनियत स्थानो के समस्त पदार्थो की यथारीति से उत्पत्ति सम्भव नही है।

ईश्वर सर्वज्ञ है—यदि ईश्वर को सर्वज्ञ न मानें तो यथायोग्य उपादान कारणो के न जानने पर वह उनके अनुरूप कार्यो की उत्पत्ति न कर सकेगा।

ईश्वर स्वतन्त्र है—क्योकि वह अपनी इच्छा से ही सपूर्ण प्राणियो को सुख-दुख का अनुभव कराता है।

ईश्वर नित्य है—नित्य यानी अविनाशी, अनुत्पन्न और स्थिर रूप है। अनित्य मानने पर एक ईश्वर से दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति, दूसरे से तीसरे की, इस प्रकार परम्परा का अन्त नही आ सकेगा और वह अपने अस्तित्व के लिये पराश्रित हो जायेगा।

ईश्वर को कर्ता मानने के सम्वन्ध मे निम्नलिखित युक्तियो का अवलम्वन लिया जाता है[1]—

१—सृष्टि कार्य है अत उसके लिये कोई कारण होना चाहिये।

२—सृष्टि के आदि मे दो परमाणुओ मे सम्वन्ध होने से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, इस आयोजन क्रिया का कोई कर्ता होना चाहिये।

३—सृष्टि का कोई आधार होना चाहिये।

---

१ न्यायकुसुमाजलि

४—कपडा बुनने, घडा बनाने आदि कार्यो को सृष्टि के पहले किसी ने सिखाया होगा। इसलिये कोई आदि शिक्षक होना चाहिये।

५—कोई श्रुति का बनाने वाला होना चाहिये।

६—वेदवाक्यो का कोई कर्ता होना चाहिये।

७—दो परमाणुओ के सम्वन्ध से द्व्यणुक वनता है, इसका कोई ज्ञाता होना चाहिये।

ईश्वरकर्तृत्व वादियो की उक्त कल्पनाये स्वय अपने आप मे विचारणीय है। क्योकि सर्वप्रथम यह सोचना होगा कि जगत के निर्माण करने मे ईश्वर की प्रवृत्ति अपने लिए होती है अथवा दूसरो के लिए ? ईश्वर कृतकृत्य है, उसकी सपूर्ण इच्छाओ की पूर्ति हो चुकी है, अत वह अपनी इच्छाओ को पूर्ण करने के लिए जगत का निर्माण नही कर सकता। यदि ईश्वर दूसरो के लिए सृष्टि की रचना करता है तो उसे बुद्धिमान नही कहा जा सकता है। इस स्थिति मे ईश्वर की स्वतत्रता मे रुकावट आती है और उसे दूसरे की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ता है।

करुणा से वाध्य होकर भी ईश्वर सृष्टि का निर्माण नही करता है। उस स्थिति मे जगत के सपूर्ण जीवो को सुखी होना चाहिए था। कोई दुखी नही हो, यह करुणाशील व्यक्ति ध्यान रखता है।

ईश्वर सर्वगत भी नही है। यदि शरीर से सर्वगत माना जाये तो ईश्वर के तीनो लोको मे व्याप्त हो जाने से दूसरे वनने वाले पदार्थो को रहने का अवकाश ही नही रहेगा और यदि ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत माना जाये तो वेद का विरोध होता है। क्योकि वेद मे ईश्वर को सर्वगत मानने के वारे मे कहा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वत पाद्।[1]

ईश्वर सर्वत्र नेत्रो का, मुख का, हाथो और पैरो का धारक है, यानी वह अपने शरीर के द्वारा सर्वव्यापी है। शरीरवान मानने पर दूसरा यह भी दोष

---

१ शुक्ल यजुर्वेद सहिता १७।१९

आता है कि जनसाधारण की तरह उसका शरीर निर्माण अदृष्ट निमित्तक है—जैसे साधारण प्राणियो के शरीर का निर्माण उन उनके अदृष्ट (भाग्य, पूर्वकृत कर्म) से हुआ है, उसीप्रकार ईश्वर का शरीर भी अदृष्ट के कारण वना है और अशरीरी होने पर दृश्यमान पदार्थो की उससे उत्पत्ति नही हो सकती है, क्योकि कारण के अनुरूप कार्य की उत्पत्ति होते देखी जाती है।

यदि यह कहा जाये कि ईश्वर का जगत रचने का स्वभाव है तो उसे जगत निर्माण के कार्य से कभी विश्राम नही मिलेगा और यदि विश्राम लेता है तो उसके स्वभाव को हानि पहुँचती है। यदि कहा जाये कि ईश्वर का जगत रचने का स्वभाव नही है तो ईश्वर कभी भी जगत को नही वना सकता है। सृष्टि और सहार यह दो अलग-अलग कार्य है और ईश्वर जगत की सृष्टि व सहार दोनो कार्य करता है, तो उसमे दो स्वभाव मानने पडेंगे। क्योकि निर्माण और नाश दो भिन्न-भिन्न कार्य है और एक स्वभाव से ही दोनो कार्य होने पर सृष्टि व सहार एक हो जायेंगे तथा एक स्वभाव रूप कारण से परस्पर विरोधी दो कार्य उत्पन्न नही हो सकते है।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि जव जगत मे सचेतन और अचेतन पदार्थ अनादिकाल से अपने अस्तित्व एव स्वरूप से स्वतत्र सिद्ध है तथा ईश्वर ने भी असत् से किसी एक भी सत् को उत्पन्न नही किया है और वे सव परस्पर सहकारी होकर प्राप्त सामग्री के अनुसार परिणमन करते रहते है, तव सर्वशक्तिमान ईश्वर को मानने की आवश्यकता भी क्या है? साथ ही जगत के उद्धार के लिए किसी ईश्वर की कल्पना करना तो पदार्थो के निजस्वरूप को ही परतत्र वना देना है। प्रत्येक प्राणी अपने विवेक और सदाचार से अपनी उन्नति के लिए उत्तरदायी है, न कि अन्य किसी विधाता के प्रति जिम्मेदार है और न उससे प्रेरित होकर ही वह कर्तव्य एव अकर्तव्य का वोध प्राप्त करता है। अत जगत-वैचित्र्य के लिये पुरुषवाद निरर्थक है।

पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सचेतन प्राणियो मे विद्यमान विपमता के कारण ईश्वर आदि नही है किन्तु स्वय जीव अपने कर्मो से विकास व विनाश, उत्थान व पतन के मार्ग पर अग्रसर होता है। इसीलिए जैन दृष्टि ने कर्मवाद को जीव जगत की विचित्रता का कारण माना है। यह दृष्टि

कल्पित नही किन्तु वास्तविक तथ्यो पर आधारित है। कर्मवाद का मूल प्रयोजन जगत की दृश्यमान विषमता की समस्या को सुलझाना है।

कर्म का सामान्य अभिधेयार्थ क्रिया है, लेकिन जव उसके व्यजनात्मक अर्थ को ग्रहण करते है तो जीव द्वारा होने वाली क्रिया से आत्मशक्ति को आच्छादित करने वाले पौद्गलिक परमाणुओ का सयोग होता है और इस सयोग के द्वारा जीव को विविध अवस्थाओ की प्राप्ति होना कर्म कहलाता है और यही कर्म प्राणिजगत की स्वरूप स्थिति की विभिन्नताओ, विविधताओ, विपमताओ का वीज है। इस बीज के द्वारा जीव नाना प्रकार की आधि, व्याधि, और उपाधियो को प्राप्त करता है—

कम्मुणा उवाही जायइ।[1]

इसी वात को सत तुलसीदासजी के शव्दो मे कहेगे—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करहि सी तस फल चाखा।

प्राणी जैसा करता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है। इसमे किसी प्रकार की मतभिन्नता नही है। जनसाधारण मे तो कर्म के वारे मे यह मान्यता है—करमगति टारी नाहि टरै। भारतीय तत्त्व चिन्तको ने तो कर्मसिद्धान्त को अति महत्वपूर्ण स्थान दिया है। जितने भी आत्मवादी—जैन साख्यादि, अनात्मवादी वौद्ध एव यहा तक कि ईश्वरवादी विचारक है, सभी ने कर्म की सत्ता और उसके द्वारा जीव को सुख-दुख आदि की प्राप्ति होना माना है और कर्मविपाक के कारण यह जीव विविध प्रकार की विपमताओ को प्राप्त करता है। जिसने जैसा कर्म का वन्ध किया है, उसके अनुसार वैसी-वैसी उसकी मति और परिणति होती जाती है। पूर्ववद्ध कर्म उदय मे आता है और उसी के अनुसार नवीन कर्मवन्ध होता जाता है। यह चक्र अनादि से चल रहा है।

कर्म के आशय को स्पप्ट करने के लिए विभिन्न दार्शनिको ने माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, धर्माधर्म, अदृप्ट, सस्कार आदि शव्दो का

---

१ आचाराग ३।१

प्रयोग किया ओर उन सव का फलितार्थ यही निकलता है कि जीव द्वारा की गई प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति ऐसे सस्कारो का निर्माण करती है जिससे यह जीव तत्काल या कालान्तर मे सुख-दुःख रूप फल को प्राप्त करता रहता है और वे जीव को शुभ-अशुभ फल प्राप्त कराने के कारण वनते है। लेकिन जव यह आत्मा अपनी विशेष शक्ति से समस्त सस्कारो से रहित हो वासनाशून्य हो जाती है यव वह मुक्त कहलाती है और इस मुक्ति के वाद पुन कर्म आत्मा के साथ सम्वद्ध नही होते है और न अपना फल ही देते है।

सचेतन तत्त्व की विचित्रता का समाधान कर्म को माने विना नही हो सकता है। आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मो के अनुसार वैसे स्वभाव और परिस्थितियो का निर्माण करती है, जिसका प्रभाव वाह्य सामग्री पर पडता है और उसके अनुसार परिणमन होता है। तदनुसार कर्म-फल की प्राप्ति होती है। जव कर्म के परिपाक का समय आता है तव उसके उदय काल मे जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री होती है, वैसा ही उसका तीव्र, मन्द, मध्यम फल प्राप्त होता रहता है।[1]

अव प्रश्न यह होता है कि जीव के साथ कर्मो का सम्वन्ध जुडा कैसे, जिससे वह सुख-दु ख आदि रूप विषमताओ का भोक्ता माना जाता है और कर्म का उस-उस रूप मे फल प्राप्त होता है ? तो इसका उत्तर है कि आत्मा के ज्ञानदर्शनमय होने पर भी वैकारिक—कषायात्मक प्रवृत्ति के द्वारा कर्म पुद्गलो को ग्रहण करता रहता है[2] और इस ग्रहण करने की प्रक्रिया मे मन-वचन-काय का परिस्पन्दन सहयोगी वनता है। जव तक कषायवृत्ति जीव मे विद्यमान है तव तक तीव्र विपाकोदय वाले (फल देने वाले) कर्मो का वन्ध होता है। इन वँधे हुए कर्मो के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त होता रहता है। इस फल-प्राप्ति का न तो अन्य कोई प्रदाता है और न सहायक। यदि कर्मफल की प्राप्ति मे दूसरे को सहायक माना जाये तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेंगे। दूसरी वात यह भी है कि यदि जीव को कर्मफल की प्राप्ति दूसरे के द्वारा होना

---

१ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवति। दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला हवंति।
—दशाश्रुत० ६

२ सकपायत्वाज्जीव : कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते । —तत्वार्थसूत्र ८।२

माना जाये तो इसमे जीव के पुरुषार्थ की हानि ही है। जव जीव को फल की प्राप्ति पराधीन है तो फिर सत्कर्मो मे प्रवृत्ति एव असत्कर्मो से निवृत्ति के लिए उत्साह जाग्रत नही होगा और न इस ओर प्रयत्न, पुरुषार्थ किया जायेगा।

उक्त कथन का साराश यह है कि ससारी जीवो मे दृश्यमान विचित्रताओं विपमताओ आदि का कारण कर्म है। कर्माधीन होकर ही ससार के अनन्त जीव विभिन्न प्रकार के शरीरो, इन्द्रियो की न्यूनाधिकता वाले है। इतना ही नही, उनके आत्मगुणो के विकास की अल्पाधिकता का कारण भी कर्म है।

मार्गणाओ मे कर्मवन्ध के कारण शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओ से युक्त इन्ही ससारी जीवो का वर्गीकरण किया गया है। मार्गणाये जीवो के विकास की सूचक नही है किन्तु स्वाभाविक-वैभाविक रूपो का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करके उनका व्यवस्थित रूप दिया गया है जिससे कि उनकी शारीरिक क्षमता का और क्षमता के कारण होने वाले आध्यात्मिक विकास की तरतमता का सही रूप मे अकन किया जा सके।

मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व के ज्ञान की उपयोगिता

तीसरे कर्मग्रन्थ मे मार्गणाओ के आधार से जीवो की कर्मवन्ध की योग्यता का दिग्दर्शन कराया गया है, तो प्रश्न होता है कि जव दूसरे कर्मग्रन्थ मे गुणस्थानो के अनुसार समस्त ससारी जीवो के चौदह विभाग करके प्रत्येक विभाग की कर्मविपयक वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता सम्वन्धी योग्यता का वर्णन किया जा चुका है और उससे सभी जीवो के आध्यात्मिक उत्कर्प-अपकर्प का ज्ञान हो जाता है तव मार्गणाओ के आधार से पुन उनकी वन्धयोग्यता वतलाने की क्या उपयोगिता है और ऐसे प्रयास की आवश्यकता भी क्या है?

इसका उत्तर यह है कि समान गुणस्थान होने पर भी भिन्न-भिन्न जाति के जीवो की, न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीवो की, भिन्न-भिन्न लिंग (वेद) धारी जीवो की, विभिन्न कपाय परिणाम वाले जीवो की, योग वाले जीवो की तथा इसीप्रकार ज्ञान-दर्शन-सयम आदि आत्मगुणो की दृष्टि मे भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवो की वन्धयोग्यता वतलाने के लिये मार्गणाओं का आधार लिया गया है। इसमे दो लाभ हैं—एक तो यह है कि अमुकगति आदि वाले जीव

के गुणस्थान कितने हो सकते है और दूसरा यह कि गुणस्थानो के समान होने पर भी जीव अपने शरीर, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा कितने कर्मो का वन्ध करते है। यह कार्य गुणस्थानो की अपेक्षा ही वन्धस्वामित्व वतलाने से सम्भव नही हो सकता है। अत आध्यात्मिक दृष्टि वालो को मनन करने योग्य है।

ग्रन्थ परिचय

कर्मसिद्धान्त का ज्ञान कराने वाले अनेक ग्रन्थ है। उनमे कर्मविपाक, कर्मस्तव, वन्धस्वामित्व, षडशीति, शतक और सप्ततिका नामक छह कर्मग्रथ है। इनको प्राचीन षट कर्मग्रन्थ कहा जाता है। इनमे रचयिता भी भिन्न-भिन्न आचार्य है और रचना काल भी पृथक्-पृथक् है। इनके साथ प्राचीन विशेपण उनका पुरानापन वतलाने के लिये नही लगाया जाता है किन्तु उनके आधार से बाद के बने नवीन कर्मग्रन्थो से उनका पार्थक्य वतलाने के लिये लगाया गया है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने उक्त प्राचीन कर्मग्रन्थो का अनुसरण करते हुए पाँच कर्मग्रन्थ बनाये है। जिनके नाम क्रमश इस प्रकार है—

१. कर्मविपाक, २ कर्मस्तव, ३ वन्धस्वामित्व, ४ षडशीति, ५ शतक। ये कर्मग्रन्थ परिमाण मे प्राचीन कर्मग्रन्थो से छोटे है, लेकिन उनका कोई भी वर्ण्य विषय छूटने नही पाया है और अन्य अनेक नये विषयो का भी सग्रह किया गया है। फलत. कर्मसाहित्य के अध्येताओ ने इन ग्रन्थो को अपनाया और कतिपय विद्वानो के सिवाय साधारण जन यह भी नही जानते कि श्री देवेन्द्र-सूरि के कर्मग्रथो के अलावा अन्य कोई प्राचीन कर्मग्रन्थ भी है।

सामान्य रूप से कर्मग्रथो का प्रतिपादित विषय कर्मसिद्धान्त है। लेकिन जव प्रत्येक ग्रथ के वर्ण्य विपय को जानने की ओर उन्मुख होते है तो यह ज्ञातव्य है कि प्रथम कर्मग्रथ मे ज्ञानावरण आदि कर्मो और उनके भेदप्रभेदो के नाम तथा उनके फल का वर्णन है। दूसरे कर्मग्रथ मे गुणस्थानो का स्वरूप समझाकर उनमे कर्म-प्रकृतियो के वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया गया है। तीसरे कर्मग्रथ मे मार्गणाओ के आश्रय से कर्म प्रकृतियो के वन्ध के स्वामियो का वर्णन किया गया है कि अमुक मार्गणा वाला जीव किन-किन और कितनी प्रकृतियो का वन्ध करता है। चतुर्थ कर्मग्रथ मे जीव स्थान, मार्गणास्थान, गुण-

स्थान, भाव और सख्या ये विभाग करके उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। पचम कर्मग्रंथ मे प्रथम कर्मग्रन्थ मे वर्णित प्रकृतियो मे से कौन-कौन सी ध्रुव, अध्रुव, वन्ध, उदय, सत्ता वाली है, कौन-सी सर्व-देशघाती, अघाती, पुण्य, पाप, परावर्तमान,अपरावर्तमान है और उसके वाद उन प्रकृतियो मे कौन-सी क्षेत्र, जीव, भव और पुद्गल विपाकी है–यह वतलाया गया है। इसके बाद कर्मप्रकृतियो के प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश वन्ध इन चार प्रकार के वन्धो का स्वरूप वतलाया गया है तथा उनसे सवन्धित अन्य कथनो का समावेश करते हुए अन्त मे उपशम श्रेणि, क्षपक श्रेणि का कथन किया गया है।

तृतीय कर्मग्रन्थ का वर्ण्य-विषय

प्रस्तुत तृतीय कर्मग्रन्थ मे गतिआदि १४ मार्गणाओ के उत्तर भेदो मे सामान्य व गुणस्थानो की अपेक्षा कर्मप्रकृतियो के वध को वतलाया है। यानी किस मार्गणा वाला जीव कितनी-कितनी कर्मप्रकृतियो का वन्ध करता है। यद्यपि ग्रन्थ के प्रारम्भ मे मार्गणाओ और उनके उत्तर भेदो का नामोल्लेख नही है लेकिन क्रम-क्रम से गति, इन्द्रिय, काय आदि मार्गणाओ के प्रभेदो का आश्रय लेकर क्रमवद्ध वन्धस्वामित्व का कथन किया है, जिससे अध्येता मार्गणाओ के मूल और उनके अवान्तर भेदो को सहज मे समझ लेता है।

इस ग्रन्थ और प्राचीन कर्मग्रन्थ का वर्ण्यविपय समान है लेकिन इन दोनो मे यह अन्तर है कि प्राचीन मे विषय वर्णन कुछ विस्तार से किया गया है और इसमे सक्षेप से। लेकिन उसका कोई भी विषय इसमे छूटा नही है। गोम्मट-सार कर्मकाण्ड मे भी इस ग्रन्थ के विषय का वर्णन किया गया है, लेकिन उसकी वर्णनशैली कुछ भिन्न है तथा जो विषय तीसरे कर्मग्रन्थ मे नही है, परन्तु जिस विषय का वर्णन अध्ययन करने वालो के लिये उपयोगी है, वह सव कर्मकाड मे है। तीसरे कर्मग्रन्थ मे मार्गणाओ मे वन्धस्वामित्व का वर्णन किया गया है किन्तु कर्मकाड मे वन्धस्वामित्व के अतिरिक्त उदय, उदीरणा व सत्ता-स्वामित्व का भी वर्णन है। यह वर्णन अभ्यासियो के लिये उपयोगी होने से परिशिष्ट के रूप मे सकलित किया गया है।

सभवत कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार कर्मकाड के वर्णन मे कही-कही भिन्नता हो सकती है। लेकिन यह भिन्नता आशिक होगी और उसकी अपेक्षा समानता अधिक है। अत. जिज्ञासुजन 'वादे वादे जायते तत्ववोध' की दृष्टि से गो० कर्म-काण्ड के उद्धृत अश की उपयोगिता समझकर कर्मसाहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो यह आकाक्षा है।

अन्त मे पाठको को अव तक कर्म साहित्य पर लिखित विविध ग्रन्थो का ऐतिहासिक परिचय भी करा दिया गया है, ताकि विपय के जिज्ञासु उन ग्रन्थों के परिशीलन की ओर आकृष्ट हो।

प्रथम तीनो भाग की मूल गाथाएं भी इसलिए दी गई है कि कर्मग्रन्थ के रसिक उन्हे कण्ठस्थ करके पूरे ग्रन्थ का हार्द हृदयगम कर सके। कुल मिलाकर प्रयत्न यह किया है कि ग्रन्थ अनेक दृष्टियो से उपयोगी वन सके। मूल्याकन पाठकों के हाथ मे है।

—श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'
—देवकुमार जैन

तृतीय भाग

कर्मग्रन्थ

[बन्ध-स्वामित्व]

वन्दे वीरम्

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

बंधस्वामित्व

[तृतीय कर्मग्रन्थ]

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।
गइयाईसु वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥१॥

गाथार्थ—कर्मबन्ध के विधान से विमुक्त, चन्द्रमा के समान सौम्य श्री वर्धमान (वीर) जिनेश्वर को नमस्कार करके गति आदि मार्गणाओं मे वर्तमान जीवों के बन्धस्वामित्व को संक्षेप में कहता हूँ ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थ मे वर्णित विषय का संक्षेप में संकेत किया है ।

आत्मप्रदेशो के साथ कर्म के सम्बन्ध को बन्ध कहते है और यह सम्बन्ध मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारणो द्वारा होता है । अर्थात् मिथ्यात्वादि कारणो द्वारा आत्मा के साथ हाने वाले कर्मबन्ध के सम्बन्ध को कर्मविधान कहते है । इस कर्मविधान से विमुक्त यानी मिथ्यात्वादि कारणों से सर्वथा रहित होकर चन्द्रमा के समान प्रकाशमान, सौम्य और केवलज्ञानरूप श्री—लक्ष्मी से समृद्ध वर्धमान—वीर जिनेश्वर की वन्दना करके संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवो के गति आदि मार्गणाओ की अपेक्षा संक्षेप मे बन्धस्वामित्व – कौन-सा जीव कितनी प्रकृतियो को बाधता है - का वर्णन इस ग्रंथ में आगे किया जा रहा है ।

मार्गणा – गति आदि जिन अवस्थाओ को लेकर जीव मे गुण जीवस्थान आदि की मार्गणा—विचारणा, गवेषणा की जाती

अवस्थाओं को मार्गणा कहते है। अर्थात् 'जाहि व जासु न जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा' — जिस प्रकार से अथवा जिन अवस्था—पर्यायो आदि मे जीवो को देखा गया है, उनको उसी रूप मे विचारणा, गवेपणा करना मार्गणा कहलाता है।

ससार मे जीव अनन्त है। प्रत्येक जीव का वाह्य और आभ्यतर जीवन अलग-अलग होता है। शरीर का आकार, इन्द्रियाँ, रंगरूप, विचारशक्ति, मनोवल आदि विषयो मे एक जीव दूसरे जीव से भिन्न है। यह भेद कर्मजन्य औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों के कारण तथा सहज पारिणामिक भाव को लेकर होता है। इन अनन्त भिन्नताओ को ज्ञानियों ने चौदह विभागो में विभाजित किया है। इन चौदह विभागों के अवान्तर भेद ६२ होते है। जीवो के वाह्य और आभ्यन्तर जीवन के इन विभागों को मार्गणा कहा जाता है।

ज्ञानियों ने जीवो के आध्यात्मिक गुणों के विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए, दूसरे प्रकार से भी चौदह विभाग किये है। इन विभागों को गुणस्थान कहते है।

ज्ञानीजन जीव की मोह और अज्ञान की प्रगाढ़तम अवस्था को निम्नतम अवस्था कहते है, और मोह रहित सम्पूर्ण ज्ञानावस्था की प्राप्ति को जीव की उच्चतम अवस्था अथवा मोक्ष कहते है। निम्नतम अवस्था से शनैः-शनैः मोह के आवरणों को दूर करता हुआ जीव आगे वढ़ता है, और आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणो का विकास करता है। इस विकास मार्ग मे जीव अनेक अवस्थाओं में से गुजरता है। विकासमार्ग की इन क्रमिक अवस्थाओ को गुणस्थान कहा जाता है। इन क्रमिक असंख्यात अवस्थाओ को भी ज्ञानियो ने चौदह भागो में विभाजित किया है। इन चौदह विभागों को शास्त्रो गुणस्थान कहते है।

मार्गणा और गुणस्थान में अन्तर—मार्गणा में किया जाने वाला

विचार कर्म अवस्थाओं के तरतम भाव का विचार नही है, किन्तु शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओ से घिरे हुए जीवो का विचार मार्गणाओ द्वारा किया जाता है। जबकि गुणस्थान कर्म-पटलो के तरतम भावों और योगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का ज्ञान कराते है।

मार्गणाएँ जीव के विकास-क्रम को नही बताती है, किन्तु इनके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण करती है। जबकि गुणस्थान जीव के विकास-क्रम को बताते है और विकास की क्रमिक अवस्थाओं का वर्गीकरण करते है। मार्गणाएँ सहभावी है, और गुणस्थान क्रमभावी है। अर्थात् एक ही जीव मे चौदह मार्गणाएँ हो सकती है, जबकि गुणस्थान एक जीव मे एक ही हो सकता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थानों को छोड़कर उत्तरोत्तर गुणस्थान प्राप्त किये जा सकते है और आध्यात्मिक विकास को बढ़ाया जा सकता है, किंतु पूर्व-पूर्व की मार्गणाओ को छोड़कर उत्तरोत्तर मार्गणाएँ प्राप्त नही की जा सकती है और उनसे आध्यात्मिक विकास की सिद्धि भी नही हो सकती है। तेरहवे गुणस्थान को प्राप्त यानी केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले जीव मे कषायमार्गणा के सिवाय बाकी की सब मार्गणाएँ होती है। परन्तु गुणस्थान तो मात्र एक तेरहवाँ ही होता है। अंतिम अवस्था प्राप्त जीव में भी तीन-चार मार्गणाओ को छोड़कर बाकी की सब मार्गणाएँ होती है, जबकि गुणस्थानो में सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान ही होता है।

इस प्रकार मार्गणाओ और गुणस्थानो में परस्पर अन्तर है। गुणस्थानो का कथन दूसरे कर्मग्रन्थ में किया जा चुका है। यहाँ पर मार्गणाओ की अपेक्षा जीव के कर्मबन्ध-स्वामित्व को समझाते है।

जिस प्रकार गुणस्थान चौदह होते है, और उनके मिथ्यात्व, सासादन आदि चौदह नाम हैं, उसी प्रकार मार्गणाएँ भी चौदह होती है तथा उनके नाम इस प्रकार है—

१. गतिमार्गणा, २. इन्द्रियमार्गणा, ३. कायमार्गणा, ४. योग-मार्गणा, ५. वेदमार्गणा, ६. कषायमार्गणा, ७. ज्ञानमार्गणा, ८. संयममार्गणा, ९. दर्शनमार्गणा, १०. लेश्यामार्गणा, ११. भव्य-मार्गणा, १२. सम्यक्त्वमार्गणा, १३. संज्ञिमार्गणा, १४. आहार-मार्गणा ।[1]

इनके लक्षण इस प्रकार है—

१. गति गति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय को अथवा मनुष्य आदि चारो गतियो (भव) में जाने को गति कहते है ।[2]

२. इन्द्रिय—आवरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी स्वय पदार्थ का ज्ञान करने मे असमर्थ ज्ञस्वभाव रूप आत्मा को पदार्थ का ज्ञान कराने मे निमित्तभूत कारण को इन्द्रिय कहते है ।[3] अथवा जिसके द्वारा आत्मा जाना जाये, उसे इन्द्रिय कहते है ।[4] अथवा इन्द्र के समान[5]

---

१ क—गइइन्दिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु ।
सजमदसणलेसा भव सम्मे सन्नि आहारे ।।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ ९

ख—गइइन्दियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य ।
सजमदसणलेस्साभविया सम्मत्त सण्णि आहारे ।।
—गो० जीवकाड १४१

२ ज णिरय-तिरिक्ख-मणुस्स-देवाण णिव्वत्तय कम्म त गदि णाम ।
—धवला १३।५, ५, १०१।३६३।९

३ इन्दतीति इन्द्र आत्मा । तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरण क्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिलिग तदिन्द्रस्य लिगमिन्द्रियमित्यु-च्यते । **—सर्वार्थसिद्धि १।१४**

४ आत्मन सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिगमिन्द्रियम् ।
—सर्वार्थसिद्धि १।१४

५ अहमिंदा जह देवा अविसेस अहमह त्ति मण्णता ।
ईसति एक्कमेक्क इन्दा इव इन्दिय जाणे ।।
—पंचसंग्रह ६५

अपने-अपने स्पर्शादिक विषयो में दूसरे की (रसना आदि की) अपेक्षा न रखकर स्वतंत्र हो, उन्हे इन्द्रिय कहते है ।

३. काय—जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते है ।

(४) योग—मन, वचन, काया के व्यापार को योग कहते है, अथवा पुदगलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मो के ग्रहण करने मे कारण भूत शक्ति है, उसे योग कहते है ।[1]

(५) वेद—नोकषाय मोहनीय के उदय से ऐन्द्रिय-रमण करने की अभिलाषा को वेद कहते है ।[2]

(६) कषाय—जो आत्मगुणो को कषे (नष्ट) करे अथवा जो जन्म-मरण रूपी संसार को वढ़ाये अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र को न होने दे, उसे कषाय कहते है ।[3]

(७) ज्ञान—जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विपयक समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायो को जाने, उसे ज्ञान कहते है ।[4]

---

१ मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरिय परिणामो ।
जिहप्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥

—पंचसंग्रह ८८

२ आत्मप्रवृत्तेर्मैथुनसमोहोत्पादो वेद ।

—धवला १।१।१।४

३ क—कपत्यात्मान हिनस्ति इति कपाय इत्युच्यते ।
ख—चारित्रपरिणाम कपणात् कपाय. ।

—राजवार्तिक ६।७

४ ज्ञायते-परिच्छिद्यते वस्त्वनेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानं, जानाति—स्वविपय परिच्छिनत्तीति वा ज्ञान ।

—अनुयोगद्वार सूत्र वृत्ति

(८) **संयम**—सावद्य योग से निवृत्ति अथवा पाप व्यापार रूप आरम्भ-समारंभो से आत्मा जिसके द्वारा काबू मे आये अथवा पंच महाव्रत रूप यमो का पालन अथवा पांच इन्द्रियो के जय को सयम कहते है।

(९) **दर्शन**—सामान्य-विशेपात्मक पदार्थ के विशेप अंश का ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते है।[1]

(१०) **लेश्या**—जिनके द्वारा आत्मा कर्मो से लिप्त हो, जीव के ऐसे परिणामो को लेश्या कहते है अथवा कपायोदय से अनुरक्त योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते है।[2]

(११) **भव्य**—जिसमें मोक्षप्राप्ति की योग्यता हो उसे भव्य कहते है।

(१२) **सम्यक्त्व**—छह द्रव्य, पच अस्तिकाय, नव तत्त्वो का जिनेन्द्र देव ने जैसा कथन किया है, उसी प्रकार से उनका श्रद्धान करना अथवा तत्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते है।[3]

---

१ दर्शन शासन सामान्यावबोध लक्षणम्।

—षड्दर्शन समुच्चय २।१८

२ क—लिप्पइ अप्पी कीरइ एयाए णियय पुण्ण पाव च।
जीवोत्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया॥

—पचसंग्रह १४२

ख—भावलेश्या कपायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकी त्युच्यते।

—सर्वार्थसिद्धि २।६

३ क—छह दव्व णव पयत्था सत्त तच्च णिदि्दट्ठा।
सद्दहइ ताण रूव सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥

—दर्शनपाहुड १।२

ख—तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।

—तत्वार्थसूत्र १।२

(१३) संज्ञी—अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं[1] और यह जिसके हो वह सज्ञी कहलाता है। अथवा नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते है। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते है।[2] अथवा जिसके लब्धि या उपयोग रूप मन पाया जाये उसको सज्ञी कहते है।[3]

(१४) आहार शरीर नामकर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्यमन रूप बनने योग्य नोकर्मवर्गणा का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं। अथवा तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते है।[4]

मूल में मार्गणाओं के उक्त चौदह भेदों में से प्रत्येक मार्गणा के उत्तरभेदो की संख्या और नाम यह हैं[5]—

---

१ आहारादि विपयाभिलाष सज्ञेति। —सर्वार्थसिद्धि २।२४

२ णोइ दिय आवरण खओवसम तज्जवोहण सण्णा।
सा जस्सा सो दु सण्णी इदरो सेसिदिय अववोहो॥
—गो० जीवकांड ६६०

३ सज्ञिन. समनस्का। —तत्वार्थसूत्र २।२४

४ त्रयाणा शरीराणा पण्णा पर्याप्तीना योग्य पुद्गलग्रहणमाहार।
—सर्वार्थसिद्धि २।३०

५ मुरनर तिरि निरयगई इगवियतियचउपणिदि छक्काया।
भूजलजलणानिलवण तसा य मणवयणतणु जोगा॥
वेयनरित्थिनपुंसा कसाय कोह मयमायलोभ त्ति।
मइसुयवहिमणकेवल विहगमइनुअनाण सागारा॥
सामाइछेयअपरिहा रसुहुमअहखायदेसजयअजया।
चक्खुअचक्खूओही केवलदसण अणागारा॥
किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा।
वेयगखइगुवसममिच्छमीससासाण सन्नियरे॥
आहारे अरभेआ . . . .।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ १०–१४

मार्गणा नाम	भेद संख्या	नाम
१. गतिमार्गणा	चार	नरक, तिर्यच, मनुष्य, देव।
२. इन्द्रियमार्गणा	पांच	एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।
३. कायमार्गणा	छह	पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस।
४. योगमार्गणा	तीन	मन, वचन, काय।
५. वेदमार्गणा	तीन	पुरुष, स्त्री, नपुंसक।
६. कषायमार्गणा	चार	क्रोध, मान, माया, लोभ।
७. ज्ञानमार्गणा	आठ	मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, मतिअज्ञान, श्रुताज्ञान, अवध्यज्ञान (विभग ज्ञान)।
८. संयममार्गणा	सात	सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात देशविरति, अविरति।
९. दर्शनमार्गणा	चार	चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल।
१०. लेश्यामार्गणा	छह	कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल।
११. भव्यमार्गणा	दो	भव्य, अभव्य।
१२. सम्यक्त्वमार्गणा	छह	वेदक, क्षायिक, उपशम, मिथ्यात्व, मिश्र, सासादन।
१३. संज्ञिमार्गणा	दो	संज्ञि, असंज्ञि।
१४. आहारमार्गणा	दो	आहारक, अनाहारक।

प्रश्न :—मार्गणाओ के जो पूर्व मे उत्तर भेद बताये है,उनमे ज्ञानमार्गणा के मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों और मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानो को मिलाकर कुल आठ भेद कहे है तथा संयममार्गणा के भेदों में सामायिक आदि भेदों से साथ सयम के प्रतिपक्षी असंयम

का भी समावेश किया गया है। फिर भी उनको ज्ञानमार्गणा और संयम मार्गणा कहने का क्या कारण है ?

उत्तर—प्रत्येक मार्गणा का नामकरण मुख्य भेदो को अपेक्षा से किया गया है। मुख्य भेद प्रधान है और प्रतिपक्षभूत भेद गौण। जैसे किसी वन में नीम आदि के वृक्ष अल्पसंख्या मे और आम्रवृक्ष अधिक संख्या मे होते है, तो उसे आम्रवन कहते है। इसी प्रकार ज्ञानमार्गणा के भेदो मे मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान यह पांच ज्ञान मुख्य है, तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभग-ज्ञान गौण तथा संयममार्गणा के भेदो मे सामायिक आदि यथाख्यात पर्यन्त प्रधान तथा सयम का प्रतिपक्षी असयम गौण है। इसीलिए मति आदि ज्ञानो और सामायिक आदि सयमों की मुख्यता होने के से क्रमशः ज्ञानमार्गणा और संयममार्गणा यह नामकरण किया गया है।

मार्गणाओ मे सामान्य रूप से तथा गुणस्थानो की अपेक्षा वंध-स्वामित्व का कथन किया गया है। मार्गणाओ मे सामान्यतया गुणस्थान नीचे लिखे अनुसार है।

गति—तिर्यचगति में आदि के पांच, देव और नरक गति में आदि के चार तथा मनुष्यगति में पहले मिथ्यात्व से लेकर अयोगि केवली पर्यन्त सभी चौदह गुणस्थान होते है।

इन्द्रिय—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान होते है। पचेन्द्रियों मे सव गुणस्थान होते है।

काय—पृथ्वी, जल और वनस्पति काय में पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान है। गतित्रस—तेजःकाय और वायुकाय में पहला गुणस्थान है। त्रसकाय में सभी गुणस्थान होते है।

योग—पहले से लेकर तेरहवे (सयोगि केवली) तक तेरह गुण-स्थान होते है।

वेद—वेदत्रिक में आदि के नौ गुणस्थान होते है। (उदयापेक्षा)

कषाय—क्रोध, मान, माया में आदि के नौ गुणस्थान तथा लोभ मे आदि के दस गुणस्थान होते है। (उदयापेक्षा)

ज्ञान मति, श्रुत, अवधिज्ञान मे अविरत सम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान पाये जाते है। मनःपर्यय ज्ञान में प्रमत्तसंयत आदि सात गुणस्थान है। केवलज्ञान मे सयोगि केवली और अयोगि केवली यह अतिम दो गुणस्थान पाये जाते है। मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभग-ज्ञान इन तीन अज्ञानो मे पहले दो या तीन गुणस्थान होते है।

संयम—सामायिक, छेदोपस्थानीय सयम मे प्रमत्त संयत आदि चार गुणस्थान, परिहारविशुद्धि संयम में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान सूक्ष्म-सपराय मे अपने नाम वाला गुणस्थान अर्थात दसवां गुणस्थान, यथाख्यात चारित्र मे अतिम चार गुणस्थान (ग्यारह से चौदह), देशविरत में अपने नाम वाला (पाचवा देशविरत) गुणस्थान है। अविरति मे आदि के चार गुणस्थान पाये जाते है।

दर्शन चक्षु, अचक्षुदर्शन में आदि के वारह गुणस्थान, अवधि-दर्शन में चौथे से लेकर वारहवे तक नौ गुणस्थान होते है। केवल-दर्शन में अतिम दो गुणस्थान पाये जाते है।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओ में आदि के छह गुणस्थान, तेज और पद्म लेश्या मे आदि के सात गुणस्थान, और शुक्ल लेश्या से पहले से लेकर तेरहवे तक तेरह गुणस्थान होते है।

भव्य—भव्य जीवो के चौदह गुणस्थान होते है। अभव्य जीव को पहला मिथ्यात्व गुणस्थान है।

सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवे तक आठ गुणस्थान, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक चार गुणस्थान, क्षायिक सम्यक्त्व मे चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान होते है। मिथ्यात्व मे पहला, सास्वादन मे दूसरा और मिश्र दृष्टि मे तीसरा गुणस्थान होता है।

संज्ञि—सज्ञी जीवों के एक से लेकर चौदह तक सभी गुणस्थान होते है तथा असंज्ञी जीवो में आदि के दो गुणस्थान है।

आहार—आहारक जीवों के पहले मिथ्यात्व से लेकर तेरहवें सयोगि केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते है। अनाहारक जीवो के, पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवां चौदहवां, यह पांच गुणस्थान होते है।

इस प्रकार मार्गणाओ के लक्षण और उनके अवान्तर भेदो की संख्या और नाम आदि वतलाने के वाद जीवो के अपने अपने योग्य कर्म-प्रकृतियो के वन्ध करने की योग्यता का कथन करने मे सहायक कुछ एक प्रकृतियों के सग्रह का सकेत आगे की दो गाथाओ में करते है।

जिण सुरविउवाहारदु देवाउ य नरयसुहुमविगलतिग।
एगिंदि थावराऽयव नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥२॥
अण मज्झागिइ संघयण कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिगं।
उज्जोयतिरि दुग तिरि नराउ नर उर लदुगरिसहं ॥३॥

गाथार्थ—जिननाम, सुरद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय, स्थावरनाम, आतपनाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुडसंस्थान, सेवार्त सहनन, अनन्तानुवन्धी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम संहनन चतुष्क, अशुभविहायोगति, नीच गोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भगत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, उद्योतनाम, तिर्यचद्विक, तिर्यचायु, मनुष्यायु. मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, और वज्रऋषभनाराच संहनन यह ५५ प्रकृतिया जीवो का वंधस्वामित्व वतलाने में सहायक होने से अनुक्रम से गिनाई गई है।

विशेषार्थ—वंधयोग्य १२० प्रकृतियां है। उनमे से उक्त ५५ कर्म-प्रकृतियो का विशेष उपयोग इस कर्मग्रंथ में सकेत के लिये है। अर्थात् इन दो गाथाओ मे संकेत द्वारा सक्षेप मे वोध कराने के लिए ५५ प्रकृतियो का संग्रह किया गया है, जिनसे आगे की गाथाओं मे वंध प्रकृतियो का नामोल्लेख न करके अमुक से अमुक तक प्रकृतियो की संख्या को समझ लिया जाय। जैसे कि 'सुरइगुणवीस' इस पद से देवद्विक से लेकर आगे की १९ प्रकृतियों को ग्रहण कर लेना च[illegible]

गाथाओ में सग्रह की गई प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है—

(१) तीर्थङ्कर नामकर्म,
(२) देवद्विक—देवगति, देवानुपूर्वी,
(३) वैक्रियद्विक—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग,
(४) आहारकद्विक आहारक शरीर, आहारक अगोपाग,
(५) देवायु,
(६) नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु,
(७) सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम,
(८) विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति,
(९) एकेन्द्रिय जाति,
(१०) स्थावर नाम,
(११) आतप नाम,
(१२) नपुंसक वेद,
(१३) मिथ्यात्व मोहनीय,
(१४) हुंड सस्थान,
(१५) सेवार्त संहनन,
(१६) अनन्तानुबंधी चतुष्क—अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ,
(१७) मध्यम संस्थान चतुष्क—न्यग्रोध परिमडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान,
(१८) मध्यम सहनन चतुष्क—ऋपभनाराच, नाराच, अर्ध-नाराच, कीलिका सहनन,
(१९) अशुभ विहायोगति,
(२०) नीचगोत्र,
(२१) स्त्रीवेद,
(२२) दुर्भगत्रिक—दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम,
(२३) स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि,
(२४) उद्योत नाम,

(२५) तिर्यंचद्विक—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी,
(२६) तिर्यंचायु,
(२७) मनुष्यायु,
(२८) मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी,
(२९) औदारिकद्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग,
(३०) वज्रऋषभनाराच संहनन।

इस प्रकार संक्षेप में वंधयोग्य प्रकृतियो का संकेत करने के लिए प्रकृतियों का संग्रह वतलाकर आगे की चार गाथाओं में चौदह मार्गणाओ में से गतिमार्गणा के भेद नरकगति का वध-स्वामित्व वतलाते है।

सुरइगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण बंधहिं निरया।
तित्थ विणा मिच्छि सय सासणि नपुचउ विणा छुनुइ ॥४॥

गाथार्थ—वंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से सुरद्विक आदि उन्नीस प्रकृतियो के सिवाय एक सौ एक प्रकृतियाँ सामान्यरूप से नारक जीव वांधते है। मिथ्यात्व गुणस्थान में वर्तमान नारक तीर्थङ्कर नामकर्म के विना सौ प्रकृतियो को और सास्वादन गुणस्थान में नपुंसक चतुष्क के सिवाय छियानवै प्रकृतियो को वाँधते है।

विशेषार्थ—गाथा मे सामान्य (ओघ)[1] रूप से नरकगति में तथा विशेष[2] रूप से उसके पहले मिथ्यात्व गुणस्थान और दूसरे सास्वादन गुणस्थान मे वंधयोग्य प्रकृतियों का कथन किया गया है।

---

१ ओघवंध—किसी खास गुणस्थान या खास नरक की विवक्षा किये विना ही सव नारक जीवो का जो वध कहा जाता है, वह उनका ओघवध या सामान्यवध कहलाता है।

२. विशेषवंध—किसी खास गुणस्थान या किसी खास नरक को लेकर नारकों में जो वध कहा जाता है, वह उनका विशेषवंध कहलाता है। जैसे कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक १०० प्रकृतियो को वाधते हैं इत्यादि। इसी प्रकार आगे अन्यान्य मार्गणाओ में भी ओघ और विशेष वध [illegible] समझ लेना चाहिए।

नारक—नरक गति नामकर्म के उदय से जो हो अथवा नरान्= जीवो को, कायन्ति =क्लेश पहुँचायें, उनको नारक कहते है। अथव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो स्वय तथा परस्पर मे प्रोति को प्राप न करते हो, उन्हें नारक कहते हैं। नारक निरन्तर ही स्वाभावि शारीरिक-मानसिक आदि दुखो से दुखी रहते है।[1]

सामान्यतया सर्व ससारी जीवो की अपेक्षा १२० प्रकृतिया बध-योग्य मानी गई है। उनमे से पूर्व की दो गाथाओ में कही गई ५५ प्रकृतियो के संग्रह मे से देवद्विक आदि से लेकर अनुक्रम से कही गई उन्नीस प्रकृतियाँ नरकगति मे वंधयोग्य ही न होने से सामान्यतः १०१ प्रकृतियो का बंध माना जाता है। अर्थात् गाथा मे जो 'सुरइ-गुणवीसवज्जं' पद आया है उससे–(१) देवगति, (२) देव-आनु-पूर्वी, (३) वैक्रियशरीर, (४) वैक्रिय अंगोपाग, (५) आहारक शरीर, (६) आहारक अंगोपांग, (७) देवायु, (८) नरकगति (९) नरक-आनुपूर्वी, (१०) नरकायु, (११) सूक्ष्म नाम, (१२) अप-र्याप्त नाम, (१३) साधारण नाम, (१४) द्वीन्द्रिय जाति, (१५) त्री-न्द्रिय जाति, (१६) चतुरिन्द्रिय जाति, (१७) एकेन्द्रिय जाति, (१८) स्थावर नाम तथा (१९) आतप नाम—इन उन्नीस प्रकृतियो का नारक जीवो के भव स्वभाव के कारण बंध ही नही होता है अतः बंध योग्य १२० प्रकृतियो से इन १९ प्रकृतियो को कम करने पर १०१ प्रकृतियों को सामान्य से नरकगति में बंधयोग्य मानना चाहिए।

क्योकि जिन स्थानों मे उक्त उन्नीस प्रकृतियों का उदय होता है, नारक जीव नरकगति में से निकल कर उन स्थानो में उत्पन्न नही

---

१. क—ण रमति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
अण्णोण्णेहि जम्हा तम्हा ते णारया भणिया॥

—गो० जीवकाण्ड १४६

ख—नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया।

—तत्त्वार्थसूत्र ३।३

होते है। अर्थात् उक्त १६ प्रकृतियो में से देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी आर नरकायु—ये आठ प्रकृतियाँ देव और नारकीय प्रायोग्य है और नारकीय मर कर नरक अथवा देव गति मे उत्पन्न नही होते है। अत उन आठ प्रकृतियो का नरकगति में वध नही होता है।

सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम और साधारण नाम इन तीन प्रकृतियो का भी बंध नारक जीवो के नही होता है। क्योकि सूक्ष्म नामकर्म का उदय सूक्ष्म एकेन्द्रिय के, अपर्याप्त नामकर्म का उदय अपर्याप्त तिर्यचो और मनुष्यो के तथा साधारण नामकर्म का उदय साधारण वनस्पति के होता है।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम ये तीन प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय प्रायोग्य हैं तथा विकलेन्द्रियत्रिक विकलेन्द्रिय प्रायोग्य है। अतः इन छः प्रकृतियो को नारक जीव नही बाँधते है तथा आहारकद्विक का उदय चारित्रसपन्न लब्धिधारी मुनियो को ही होता है, अन्य को नही। इसलिए देवद्विक से लेकर आतप नामकर्म पर्यन्त १६ प्रकृतियाँ अवन्ध होने से नरकगति मे सामान्य से १०१ प्रकृतियों का वध होता है।

यद्यपि नरकगति मे सामान्य से १०१ प्रकृतियाँ बंधयोग्य है, लेकिन नारकों मे पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थान होते है। अतः मिथ्यात्व गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म का वध नही होने से १०० प्रकृतियों का बंध होता है। क्योकि तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध का अधिकारी सम्यक्त्वी है, अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध हो सकता है। लेकिन मिथ्यात्व गुणस्थान मे सम्यक्त्व नहीं है, अत. मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीव के तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध नही होता है। इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान मे नारक जीवों के १०० प्रकृतियां बंधयोग्य हैं।

दूसरे सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक जीव नपुंसकवेद, मिथ्यात्व

मोहनीय, हुडसस्थान और सेवार्त सहनन—इन चार प्रकृतियो नही वाँधते है। क्योकि इन चार प्रकृतियां का वध मिथ्यात्व उदयकाल मे होता है। लेकिन सास्वादन के समय मिथ्यात्व उदय नही होता है। अर्थात् नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतु हुंडसंस्थान, आतप नाम, सेवार्त संहनन, नपुसक वेद अ मिथ्यात्व मोहनीय--इन सोलह प्रकृतियों का वंध मिथ्यात्व निमि है। इनमें से नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय जा स्थावर नाम और आतप नाम—इन वारह प्रकृतियो को नारक ज... भव स्वभाव के कारण वाँधते ही नही है। अतः देवद्विक आदि मे ग्रहण करके इन वारह प्रकृतियो को सामान्य वध के समय ही कम कर दिया गया और शेप रही नपुसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुंड संस्थान और सेवार्त संहनन—ये प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के निमित्त से बंधती है और सास्वादन गुणस्थान मे मिथ्यात्व का उदय नही है। अत साम्वादन गुणस्थान में इन चार प्रकृतियो को मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीवो की बंधयोग्य १०० प्रकृतियों मे से कम करने पर दूसरे सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के ६६ प्रकृतियाँ बंधयोग्य कही है।

साराश यह है कि बधयोग्य १२० प्रकृतियो में से नरकगति मे सामान्य बध की अपेक्षा सुरद्विक आदि आतप नामकर्म पर्यन्त १६ प्रकृतियो के बंधयोग्य न होने से १०१ प्रकृतियो का बंध होता है।

नरकगति मे मिथ्यात्वादि पहले से चौथे तक चार गुणस्थान होते है। अत नरकगति मे बंधयोग्य १०१ प्रकृतियो मे से तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध सम्यक्त्व निमित्तक होने से मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीवो के तीर्थङ्कर नामकर्म का वंध नही होने से १०० प्रकृतियो का तथा नपुंसक वेद आदि चार प्रकृतियो का बंध मिथ्यात्व के उदय होने पर होता है और सास्वादन गुणस्थान मे मिथ्यात्व का उदय नही होने से मिथ्यात्व गुणस्थान की बंधयोग्य १०० प्रकृतियों में से नपुंसक वेद आदि चार प्रकृतियो को कम करने से ६६ प्रकृतियो का वंध होता है।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य से तथा पहले और दूसरे गुण-स्थान में नारक जीवों के कर्म प्रकृतियों के वंधस्वामित्व का वर्णन करने के वाद अव आगे की गाथा मे तीसरे और चौथे गुणस्थान तथा रत्नप्रभा आदि भूमियो के नारको के वंधस्वामित्व को कहते है—

विणु अणछवीस मीसे बिसयरि सम्ममिम जिणनराउ जुया ।
इय रयणाइसु भगो पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥५॥

गाथार्थ—अनन्तानुवंधी चतुष्क आदि छव्वीस प्रकृतियो के विना मिश्रगुणस्थान मे सत्तर तथा इनमे तीर्थङ्कर नाम और मनुष्यायु को जोड़ने पर सम्यक्त्व गुणस्थान में वहत्तर प्रकृतियो का वध होता है। इसीप्रकार नरकगति की यह सामान्य वंधविधि रत्नप्रभादि तीन नरकभूमियो के नारको के चारो गुणस्थान में भी समझना चाहिए तथा पकप्रभा आदि नरकों में तीर्थङ्कर नामकर्म के विना शेप सामान्य वंधविधि पूर्ववत समझना चाहिए।

विशेषार्थ- नरकगति में पहले और दूसरे गुणस्थान मे वधस्वा-मित्व कहने के वाद इस गाथा मे तीसरे और चौथे गुणस्थान और रत्नप्रभा आदि छह नरक भूमियो के नारकियो के प्रकृतियो के वंध को वतलाते है।

मिश्र गुणस्थानवर्ती नारको के ७० कर्म प्रकृतियो का वंध होता है। क्योकि अनन्तानुवंधी कपाय के उदय से वंधने वाला अनन्तानु-वधी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम सहनन चतुष्क, अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग, दु.स्वर, अनादेय, स्त्यानर्द्धि-त्रिक, उद्योत और तिर्यचत्रिक,—इन २५ प्रकृतियो का मिश्र गुण-स्थान मे अनन्तानुवधी का उदय न होने से वंध नही होता है। अर्थात् अनन्तानुवधी कपाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, तीसरे आदि गुणस्थानो में नही। दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय मे अनन्तानुवधी कपाय का क्षय हो जाता है, इस-

लिए अनन्तानुबंधी के कारण बंधने वाली उक्त २५ प्रकृतियो क बंध तीसरे मिश्र गुणस्थान में नही होता है तथा मिश्र गुणस्था में रहने वाला कोई भी जीव आयुकर्म का बध नही करता है।[1] अतः मनुष्यायु का भी बध नही हो सकता है।

अतः दूसरे गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के बँधने वाली ६ प्रकृतियो मे से अनन्तानुबँधी कपाय चतुष्क आदि पूर्वोक्त २५ प्रकृति तथा मनुष्यायु, कुल मिलाकर २६ प्रकृतियो को कम करने से मि गुणस्थानवर्ती नरकगति के जीवो को ७० प्रकृतियो का बंधस्वामित्व मानना चाहिए।

लेकिन चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती नारक जीव सम्यक्त्व के होने से तीर्थङ्कर नामकर्म का बध कर सकते हैं क्योंकि सम्यक्त्व के सद्भाव में ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है[2] तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव के आयुकर्म के वंध न होने के नियम से जिस मनुष्यायु का बंध नही होता था, उसका चौथे गुणस्थान मे बंध होने से मिश्र गुणस्थान में बंध होने वाली ७० प्रकृतियो में तीर्थंकर नाम और मनुष्यायु—इन दो प्रकृतियों को मिलाने से चौथे गुणस्थानवर्ती नारक जीव ७२ प्रकृतियों का बंध करते हैं।

नरकगति में चौथे गुणस्थानवर्ती नारकों के मनुष्यायु के बध होने का कारण यह है कि नारक जीव पुनः नरकगति की आयु का वन्ध नही कर सकते और न देवायु का ही बन्ध कर सकते है। अतः यह दो आयुकर्म की प्रकृतियाँ नरकगति मे अबन्ध हैं। इनका संकेत गाथा चार मे 'सुरइगुणवीसवज्जं' पद से पहले किया जा चुका है। तिर्यचायु का बंध अनन्तानुवन्धी कषाय के उदय होने पर होता और अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय पहले, दूसरे गुणस्थान

---

१. (क) सम्मामिच्छद्दिट्ठी आउयबध पि न करेइ त्ति।

(ख) मिस्सूणे आउस्स ···। —गो० कर्मकाण्ड ९२

२ सम्मेव तित्थवधो। —गो० कर्मकांड ९२

तक होता है, आगे के गुणस्थानो मे नही। अतः चौथे गुणस्थान मे नारक जीवो के तिर्यचायु का वन्ध नही हो सकता। इस प्रकार नरक, देव और तिर्यचायु के वन्ध नही होने से सिर्फ मनुष्यायु शेष रहती है तथा तीसरे मिश्रगुणस्थान मे परभव सम्वन्धी आयु का वन्ध न होने का सिद्धान्त होने से चौथे गुणस्थानवर्ती नारक जीव मनुष्यायु का वन्ध कर सकते है।

इस प्रकार नरकगति मे गुणस्थानो की अपेक्षा वन्धस्वामित्व वतलाने के वाद नरक भूमियो में रहने वाले नारकों की अपेक्षा वंध-स्वामित्व वतलाते हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा—ये सात नरक भूमियाँ है। ये भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित है, एक दूसरे के नीचे है और नीचे की ओर अधिक विस्तीर्ण है।[1]

इन सात नरको मे रत्नप्रभा,शर्कराप्रभा,वालुकाप्रभा इन नरको में सामान्य व चारो गुणस्थान की अपेक्षा कहे गये नारक जीवों के वंधस्वामित्व के समान ही वन्धस्वामित्व मानना चाहिए। अर्थात् जैसे नरकगति में पहले गुणस्थान मे १००, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे मे ७२ प्रकृतियो का वन्ध माना गया है, उसी प्रकार रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा—इन नरकों में रहने वाले नारक जीवो के अपने-अपने योग्य गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

गाथा में आये हुए 'रयणाइसु' इस वहुवचनात्मक पद से यद्यपि रत्नप्रभा आदि सातो नरकों का ग्रहण होना चाहिए था, किन्तु यहाँ रत्नप्रभा आदि पहले, दूसरे और तीसरे नरक के ग्रहण करने का कारण

---

१ रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमियो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा सप्ताधोऽधः पृथुतरा।

यह है कि इसी गाथा में 'पंकाइसु' पद दिया है, जिसका अर्थ है कि पंकप्रभा आदि नरकों में वन्धस्वामित्व का कथन अलग से किया जायगा। इसी कारण पकप्रभा नामक चौथे नरक से पहले के रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा इन तीन नरको का यहाँ ग्रहण किया गया है तथा 'पंकाइसु' पद से पकप्रभा आदि शेष नरको का ग्रहण करना चाहिए लेकिन 'पंकाइसु' इस पद से पकप्रभा, धूमप्रभा और तम-प्रभा इन तीन नरको का ग्रहण किया गया है, क्योंकि आगे की गाथा में महातमःप्रभा नामक सातवे नरक का वधस्वामित्व अलग से कहा है। इस गाथा मे तो तीर्थंकर नामकर्म का वंधस्वामित्व पकप्रभा आदि महातम.प्रभा पर्यन्त के नारक जीवो के होता ही नही है, इस वात को वताने के लिए 'पकाइसु' पद दिया है।

पकप्रभा आदि चार, पाँच और छह—इन तीन नरको मे तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध नही होता है।

पकप्रभा आदि में तीर्थङ्कर नामकर्म के वन्धस्वामित्व न होने का कारण यह है कि पंकप्रभा, धूमप्रभा और तमःप्रभा नरको मे सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर भी क्षेत्र के प्रभाव से और तथाप्रकार के अध्यवसाय का अभाव होने से तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध नही होता है। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि पहले नरक से आया जीव चक्रवर्ती हो सकता है। दूसरे नरक तक से आया जीव वासुदेव हो सकता है और तीसरे नरक तक से आया जीव तीर्थङ्कर हो सकता है। चौथे नरक तक से आया जीव केवली और पाँचवें नरक तक से आया जीव साधु एव छठे नरक तक से आया जीव देशविरत हो सकता है और सातवें नरक तक से आये जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते है, परन्तु देशविरतित्व प्राप्त नही कर सकते है। अतः पंकप्रभा आदि से आया नारक जीव तीर्थङ्करत्व को प्राप्त नही करता है। इसलिए तीर्थङ्कर नामकर्म पंकप्रभा आदि तीन नरको मे अवन्ध्य होने से १०० प्रकृतियो का वन्ध समझना चाहिए।

पंकप्रभा आदि इन तीन नरकों में सामान्य और विशेष रूप में पहले गुणस्थान मे १००, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में रत्नप्रभा आदि तीन नरकों के समान क्रमश: ६६ और ७० प्रकृतियों और चौथे गुणस्थान मे सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर भी क्षेत्र के प्रभाव से तथा-प्रकार के अध्यवसाय का अभाव होने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध न होने से ७१ प्रकृतियों का बंध हो सकता है।

सारांश यह है कि नरकगति में तीसरे गुणस्थान मे ७० और चौथे गुणस्थान मे ७२ प्रकृतियों का वन्ध होता है और गुणस्थानों की अपेक्षा कहे गये वन्धस्वामित्व के समान रत्नप्रभा आदि तीन नरको मे भी समझना चाहिए। लेकिन पंकप्रभा आदि तीन नरकों मे तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध न होने से सामान्य और विशेष रूप मे पहले गुणस्थान में १००, दूसरे मे ६६, तीसरे में ७० और चौथे में ७१ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

इस प्रकार से नरकगति मे पहले से लेकर छठे नरक तक के जीवो के वन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब आगे की दो गाथाओं में सातवे नरक तथा तिर्यंच गति में पर्याप्त तिर्यंचों के वन्ध-स्वामित्व को कहते है —

अजिणमणुआउ ओहे सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
इगनवई सासणे तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥६॥
अणचउवीसविरहिया सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे।
सतरसउ ओहि मिच्छे पजतिरिया विणु जिणाहारं ॥७॥

गाथार्थ सातवे नरक में सामान्य रूप से तीर्थङ्कर नामकर्म और मनुष्यायु का बंध नही होता है तथा मनुष्यद्विक और उच्च-गोत्र के विना शेष प्रकृतियो का मिथ्यात्व गुणस्थान में वन्ध होता है। सास्वादन गुणस्थान मे तिर्यचायु और नपुंसक चतुष्क के विना ९१ प्रकृतियो का बंध होता है तथा इन ९१ प्रकृतियो

में से अनन्तानुबंधी चतुष्क आदि २४ प्रकृतियों को कम करने और मनुष्यद्विक एवं उच्चगोत्र इन तीन प्रकृतियो को मिलाने से मिश्रद्विक गुणस्थान मे ७० प्रकृतियो का बंध होता है।

तिर्यंचगति मे पर्याप्त तिर्यंच तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक के विना सामान्य रूप से तथा मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियो को बांधते है।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं मे सातवें नरक के नारकों मे सामान्य और गुणस्थानो की अपेक्षा से एवं तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंचो के बंधस्वामित्व का कथन किया गया है।

नरकगति में सामान्य से १०१ प्रकृतियाँ वंधयोग्य है। उनमे से क्षेत्रगत प्रभाव के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म के वन्धयोग्य तथाप्रकार के अध्यवसायो का अभाव होने से सातवें नरक के नारक तीर्थंकर नामकर्म का बंध नही करते है तथा मनुष्यायु का छठे नरक तक ही बंध हो सकता है[1] और सातवे नरक की अपेक्षा मनुष्यायु उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। अतः इसका वन्ध उत्कृष्ट अध्यवसायो के होने पर हो सकता है। इसलिए सातवे नरक के नारको को मनुष्यायु का बध नही होता है।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य से वन्धयोग्य १०१ प्रकृतियो में से तीर्थंकर नामकर्म और मनुष्यायु इन दो प्रकृतियो को कम करने से सातवे नरक में ९९ प्रकृतियों का वन्ध माना जाता है।

सातवें नरक में जो ९९ प्रकृतियां वांधने योग्य वतलाई है, उनमे से उसी नरक के पहले मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक मनुष्यद्विक—मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्च गोत्र—इन तीन प्रकृतियो को तथाविध विशुद्धि के अभावमे नही वाँधते है। क्योंकि सातवें नरक

---

१ छट्ठोत्ति य मणुआउ। —गो० कर्मकाण्ड १०६

के नारक को ये तीन प्रकृतियां उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतियां है, जो उत्कृष्ट विशुद्ध अध्यवसाय से बांधी जाती है और उत्कृष्ट अध्यवसाय स्थान सातवे नरक में तीसरे और चौथे गुणस्थान में होते है।[1] इसलिए मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्च गोत्र—इन तीन प्रकृतियो के अबन्ध्य होने से सामान्य से बंधयोग्य ९९ प्रकृतियां से इन तीन प्रकृतियों को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान मे सातवें नरक के नारकों के ९६ प्रकृतियों का बंध होना माना जाता है।

सातवें नरक के नारको के दूसरे सास्वादन गुणस्थान मे तिर्यचायु और नपुंसक चतुष्क—नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड सस्थान और सेवार्तसंहनन—कुल पांच प्रकृतियां अवन्ध्य होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में जो ९६ प्रकृतियों का बंध कहा गया, उनमें इन प्रकृतियों को कम करने पर ९१ प्रकृतियोंका वन्ध होता है। क्योकि इस गुणस्थान में योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से तिर्यचायु का वन्ध नही होता है और नपुंसक चतुष्क मिथ्यात्व के उदय मे होता है, किन्तु सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नही है। अतः नपुसक चतुष्क का वन्ध नही होता है। इसलिये ९६ प्रकृतियो मे से इन पाँच प्रकृतियों को कम करने से सास्वादन गुगस्थानवर्ती सातवे नरक के नारकों को ९१ प्रकृतियों का बंध होता है।

सातवें नरकवर्ती सास्वादन गुणस्थान वाले नारको को जो ९१ प्रकृतियो का बध कहा गया है, उनमें से अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि तिर्यचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियो को, अर्थात् अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, न्यग्रोध परिमडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका संहनन, अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्री वेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत, तिर्यचगति, तिर्यंचानुपूर्वी—इन

---

१ मिस्साविरदे उच्चं मणुवदुग सत्तमे हवे वधो।
मिच्छा सासणसम्मा मणुवदुगुच्च ण वधति ॥

—गो० कर्मकांड १०७

२४ प्रकृतियो का वन्ध अनन्तानुवन्धी कपाय के उदय से होता है और अनन्तानुवन्धी कपाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक होता है, अतः पूर्वोक्त ९१ प्रकृतियों में से इन २४ प्रकृतियो को कम करने पर ६७ प्रकृतियाँ रहती है। इनमे मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्चगोत्र इन तीन प्रकृतियों को मिलाने से तीसरे मिश्र गुणस्थान और चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती सातवे नरक के नारकों के ७० प्रकृतियों का वन्ध होता है।

पूर्व-पूर्व नरक से उत्तर-उत्तर नरक में अध्यवसायो की शुद्धि इतनी कम हो जाती है कि पुण्यप्रकृतियों के वंधक परिणाम पूर्व-पूर्व से उत्तर उत्तर नरक में अल्प से अल्पतर होते जाते है। यद्यपि आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक जीव प्रति समय किसी न किसी गति का बंध कर सकता है। किन्तु नरकगति के योग्य अध्यवसाय पहले गुणस्थान तक, तिर्यचगति के योग्य आदि के दो गुणस्थान तक, देवगति के योग्य आठवे गुणस्थान के छठे भाग तक और मनुष्यगति के योग्य चौथे गुणस्थान तक होते है। नारक जीव नरक और देवगति का वंध नही कर सकते है। अत. तीसरे और चौथे गुणस्थान में सातवे नरक के नारक मनुष्यगति योग्य बंध कर सकते है। सातवे नरक के जीव आयुष्य का वध पहले गुणस्थान में ही करते है। अन्य गुणस्थानो से तद्‌योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से वंध नही करते है। पहले और चौथे गुणस्थान में सातवे नरक के जीव के मनुष्यगति-प्रायोग्य वंध के लायक परिणाम नही होने से मनुष्य-प्रायोग्य बध नहीं होता है।

मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र रूप जिन पुण्य प्रकृतियो के बंधक परिणाम पहले नरक के मिथ्यात्वी नारकों को हो सकते है, उनके वंधयोग्य परिणाम सातवे नरक में तीसरे, चौथे गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थान में असंभव है। सातवे नरक में उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वे ही है, जिनसे उक्त तीन प्रकृतियों का बध किया जा

सकता है। अतएव सातवे नरक में सबसे उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतियाँ उक्त तीन ही है।

यद्यपि मनुष्यद्विक भवान्तर मे उदय आता है, किन्तु सातवे नरक के जीव मनुष्यायु को बाँधते नही है, तथापि उसके अभाव मे तीसरे-चौथे गुणस्थान में मनुष्यद्विक का बंध करते है, इसका अर्थ यह है कि मनुष्यद्विक का मनुष्यायु के साथ प्रतिबध नही है, यानी आयु का बंध गति और आनुपूर्वी नामकर्म के बध के साथ ही होना चाहिए, ऐसा नियम नही है।[1] मनुष्य आयु के सिवाय भी तीसरे और चौथे गुणस्थान मे मनुष्यद्विक का बध हो सकता है और वह भवान्तर मे उदय आता है।

इस प्रकार नरकगति के बंधस्वामित्व का कथन करने के बाद अब तिर्यंचगति का बधस्वामित्व बतलाते हैं।

जिनको तिर्यचगति नामकर्म का उदय हो उनको तिर्यंच कहते है।

तिर्यचो के दो भेद है—पर्याप्त तिर्यंच और अपर्याप्त तिर्यंच। इन दोनो में से यहाँ पर्याप्त तिर्यंचो का बंधस्वामित्व बतलाते है।

समस्त जीवो की अपेक्षा सामान्य से बंधयोग्य १२० प्रकृतियों मे से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो का बंध तिर्यंचगति मे नही होता है। अतः सामान्य से पर्याप्त तिर्यचो के ११७ प्रकृतियों का बंध होता है। क्योकि तिर्यंचो के सम्यक्त्वी होने पर भी जन्म स्वभाव से ही तीर्थङ्कर नामकर्म के बंधयोग्य अध्यवसायो का अभाव होता है और आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का बंध चारित्र धारण करने वालों को ही होता है। परन्तु तिर्यंच चारित्र के अधिकारी नही है।

---

१ नरद्विकस्य नरायुषा सह नावश्य प्रतिबन्धो यदुत यत्रैवायुर्बध्यते तत्रैव गत्यानुपूर्वीद्वयमपि, तस्याऽन्यदाऽपि बन्धात्।

—तृतीय कर्मग्रन्थ अवचूरिका पृ० १०१

अतएव तिर्यंचगति वालो के सामान्य बंध मे उक्त तीन प्रकृतियों की गिनती नही की गई है और इसीलिए तिर्यंचगति में सामान्य से ११७-प्रकृतियों का बध माना जाता है।

तिर्यंचगति मे पहले मिथ्यात्व मे लेकर पाँचवें देशविरत गुणस्थान तक पाँच गुणस्थान होते है। ये पाँचो गुणस्थान पर्याप्त तिर्यंच को होते है और अपर्याप्त तिर्यंच को सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

पर्याप्त तिर्यंचों के जो सामान्य से ११७ प्रकृतियों का वधस्वामित्व बतलाया गया है, उसी प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे भी उनके ११७ प्रकृतियों का वध समझना चाहिए। क्योंकि पहले बता चुके है कि तीर्थङ्कर नामकर्म का वंध सम्यक्त्व के होने पर होता है और आहारकद्विक का वध चारित्र धारण करने वालो के होता है। किन्तु मिथ्यात्व गुणस्थान में न तो सम्यक्त्व है और न चारित्र है। अतः मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यंच ११७ प्रकृतियों का बध करते है।

सारांश यह है कि सातवे नरक के नारक दूसरे गुणस्थान में जो ९१ प्रकृतियों का बध करते है, उनमें से अनन्तानुबंधी चतुष्क आदि तिर्यंचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियों को कम कर देने से शेष रही ६७ प्रकृतियाँ तथा इन ६७ प्रकृतियो में मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र, इन तीन प्रकृतियो को मिलाने से तीसरे मिश्र और चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—इन दो गुणस्थानों में ७० प्रकृतियों का बंध करते हैं।

तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंच बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से तथायोग्य अध्यवसायों का अभाव होने से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक का वन्ध नही कर सकते है। अतः सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य और गुणस्थानो की अपेक्षा और

तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंच के सामान्य से तथा पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा वन्धस्वामित्व का कथन करने के वाद आगे की गाथा में पर्याप्त तिर्यंच के दूसरे से पाँचवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धस्वामित्व को वतलाते हैं—

विणु नरयसोल सासणि सुराउ अण एगतीस विणु मीसे।
ससुराउ सयरि सम्मे वीयकसाए विणा देसे ॥८॥

गाथार्थ—सास्वादन गुणस्थान मे नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियो के विना तथा मिश्र गुणस्थान मे देवायु और अनन्तानुवधी चतुष्क आदि इकतीस के विना और सम्यक्त्व गुणस्थान में देवायु सहित सत्तर तथा देशविरत गुणस्थान में दूसरे कषाय के विना पर्याप्त तिर्यंच प्रकृतियो का वन्ध करते हैं।

विशेषार्थ—सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे पर्याप्त तिर्यंचो के वन्धस्वामित्व को वतलाने के वाद यहाँ दूसरे से लेकर पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त कर्मवन्ध को वतलाते है।

पर्याप्त तिर्यंचो के सामान्य से तथा पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियों का वन्ध होता है, उनमे से मिथ्यात्व के उदय से वधने वाली जो प्रकृतियाँ है,उनका सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय न होने से नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, जातिचतुष्क—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावरचतुष्क—स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम, हुंड सस्थान, सेवार्त सहनन, आतप नाम, नपुंसक वेद, और मिथ्यात्व मोहनीय इन सोलह प्रकृतियो का वन्ध नही होने से १०१ प्रकृतियो का बध होता है।[1]

---

१. नरयतिग जाइथावरचउ हुडायवछिवट्ठनपुमिच्छ।
सोलतो इगहिय सय सासणि ....॥

—कर्मग्रन्थ २।४

पर्याप्त तिर्यचों के दूसरे गुणस्थान में जो १०१ प्रकृतियो का बध बतलाया है उनमे से पर्याप्त तिर्यच मिश्र गुणस्थान मे तद्‌योग्य अध्यवसाय का अभाव होने मे तथा मिश्र गुणस्थान में आयु बंध न होने के कारण देवायु तथा अनन्तानुवन्धी कपाय का उदय दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, अतः उसके निमित्त से बधने वाली तिर्यंचत्रिक—तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यचायु, स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि; दुर्भगत्रिक—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय नाम अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क—अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मध्यमसस्थान चतुष्क—न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज सस्थान, मध्यम सहनन चतुष्क—ऋपभनाराच संहनन, नाराच सहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति और स्त्रीवेद इन पच्चीस प्रकृतियों का भी बध नही करते है[1] तथा मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकद्विक औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग और वज्रऋषभनाराच संहनन—इन छह प्रकृतियो के मनुष्य गति योग्य होने से वे नही वॉधते है। क्योंकि चौथे गुणस्थान की तरह तीसरे गुणस्थान के समय पर्याप्त मनुष्य और तिर्यच दोनों ही देवगति योग्य प्रकृतियों को वॉधते है, मनुष्यगति प्रायोग्य प्रकृतियो को नही वॉधते है।

इस प्रकार तीसरे मिश्र गुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यंचो के देवायु, अनन्तानुवन्धी कषाय निमित्तक पच्चीस प्रकृतियो तथा मनुष्यगति प्रायोग्य छह प्रकृतियो का बंध नही होने से कुल मिलाकर ३२ प्रकृतियो को दूसरे गुणस्थान की बधयोग्य १०१ प्रकृतियो मे से घटा देने पर शेष ६९ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

---

१ .... तिरिथीणदुहगतिग ॥
अणमज्झागिइसघयणचउ निउज्जोय कुखगइत्थि त्ति ।

—कर्मग्रन्थ २।४,५

पर्याप्त तिर्यचो के चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे मिश्र गुणस्थान की बन्धयोग्य ६९ प्रकृतियो के साथ देवायु के बन्ध का भी सभव होने से ७० प्रकृतियो का बन्ध माना जाता है। क्योकि तीसरे गुणस्थान मे आयु के बन्ध का नियम न होने से आयुकर्म का बंध नही होता है. किन्तु चौथे गुणस्थान मे परभव सम्बन्धी आयु का बध संभव है। परन्तु चौथे गुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यच और मनुष्य दोनो देवगति योग्य प्रकृतियो को बाधते है, मनुष्यगति योग्य प्रकृतियो को नही बाधते है। अत. चौथे गुणस्थान मे पर्याप्त तिर्यचो के देवायु का वंध माना जा सकता है।

इस प्रकार तीसरे गुणस्थान की बधयोग्य ६९ प्रकृतियो मे देवायु प्रकृति को मिलाने से पर्याप्त तिर्यचों के चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे ७० प्रकृतियो का बन्ध होता है।

पर्याप्त तिर्यचो के पाँचवें देशविरत गुणस्थान में पूर्वोक्त ७० प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क—क्रोध, मान,माया, लोभ इन चार प्रकृतियों को कम कर देने पर ६६ प्रकृतियो का वध होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का वन्ध पाँचवे और उसके आगे के गुणस्थानो में नही होता है। क्योकि यथायोग्य कषाय का उदय तथायोग्य कषाय के वन्ध का कारण है। किन्तु पाँचवे गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय नही होता है, अतः उनका यहाँ वन्ध भी नही हो सकता है। इनका उदय पहले से लेकर चौथे गुणस्थान तक होता है, अतः वहाँ तक ही वन्ध होता है। इसलिए अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का वन्ध नही होने से पर्याप्त तिर्यंचो के ६६ प्रकृतियो का वंध पाचवे गुणस्थान मे माना जाता है।

सारांश यह है कि पर्याप्त तिर्यचो के पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे वन्ध योग्य ११७ प्रकृतियो में से मिथ्यात्व के उदय से वँधने वाली नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियो को कम करने से दूसरे सास्वादन गुणस्थान मे १०१ प्रकृतियो का तथा देवायु और अनन्त

कषाय निमित्तक २५ प्रकृतियो और मनुष्यगति योग्य छह प्रकृतियो कुल ३२ प्रकृतियो का वन्ध न होने से दूसरे गुणस्थान की बधयोग्य १०१ प्रकृतियो मे से उन ३२ प्रकृतियो को कम करने से मिश्रगुणस्थान मे ६६ प्रकृतियो का तथा मिश्र गुणस्थान की उक्त ६९ प्रकृतियो मे देवायु का वन्ध होना संभव होने से चौथे गुणस्थान में ७० प्रकृतियो का-तथा इन ७० प्रकृतियो मे से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के कम करने से पॉचवे देशविरत गुणस्थान मे ६६ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

इस प्रकार से तिर्यचगति मे पर्याप्त तिर्यंचो के वन्धस्वामित्व का वर्णन करने के वाद आगे की गाथा मे मनुष्यगति के पर्याप्त और अपर्याप्त मनुष्यो और अपर्याप्त तिर्यचों के वन्धस्वामित्व को वतलाते है—

इय चउगुणेसु वि नरा परमजया सजिण ओहु देसाई।
जिणइक्कारसहीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥६॥

गाथार्थ—पर्याप्त मनुष्य पहले से चौथे गुणस्थान तक पर्याप्त तिर्यच के समान प्रकृतियों को बॉधते है। परन्तु इतना विशेष समझना कि सम्यग्दृष्टि पर्याप्त मनुष्य तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध कर सकते है, किन्तु पर्याप्त तिर्यच नही तथा पाँचवे गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानो में सामान्य से कर्मस्तव (द्वितीय कर्मग्रंथ) में कहे गये अनुसार कर्म प्रकृतियो को बांधते है। अपर्याप्त तिर्यच और मनुष्य तीर्थङ्कर नामकर्म आदि ग्यारह प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०९ प्रकृतियों का बंध करते है।

विशेषार्थ—इस गाथा में पर्याप्त मनुष्य और अपर्याप्त तिर्यच तथा मनुष्यो के वंधस्वामित्व को वतलाया है।

मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्यायु के उदय से जो मनुष्य कहलाते है अथवा जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-

अतत्त्व, धर्म-अधर्म का विचार करें और जो मन द्वारा गुण-दोषादि का विचार, स्मरण कर सकें, जो मन के विषय में उत्कृष्ट हों, उन्हे मनुष्य कहते है।

तिर्यचो के समान ही मनुष्यो के मुख्यतया पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद है। इन दो भेदो मे से पर्याप्त मनुष्य सामान्य की अपेक्षा १२० प्रकृतियो का बन्ध करता है। इन बन्धयोग्य १२० प्रकृतियो का वर्णन दूसरे कर्मग्रथ मे विशेष रूप से किया जा चुका है। फिर भी संक्षेप मे ज्ञान कर लेने के लिए उनकी सख्या इस प्रकार समझनी चाहिए—

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, वेदनीय २, मोहनीय २६, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५। इन भेदों को मिलाने से कुल १२० प्रकृतियाँ हो जाती हैं।[1]

उक्त १२० प्रकृतियों मे से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे पर्याप्त तिर्यंचों के समान ही पर्याप्त मनुष्य, तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपाग इन तीन प्रकृतियों का वध नही करते है।[1] क्योकि तीर्थङ्कर नामकर्म का वध सम्यक्त्व से और आहारकद्विक का वध अप्रमत्तसंयम से होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में जीवो के न तो सम्यक्त्व संभव है और न अप्रमत्त सयम ही। सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से पहले तथा अप्रमत्त संयम सातवे गुणस्थान से पहले नही हो सकता है। अतः पहले गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य के ११७ प्रकृतियो का बंध होता है।

---

१ पञ्च णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पच य भणिया एदाओ बधपयडीओ॥

—गो० कर्मकांड ३५

२ तित्थयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सतरसय।

उक्त ११७ प्रकृतियो मे से दूसरे गुणस्थान मे दूसरे कर्मग्रंथ मे बताई गई 'नरयतिगजाइथावरचउ हुडायव छिवट्ठ नपुमिच्छ' (गाथा ४) इन १६ प्रकृतियो का अन्त पहले गुणस्थान के अन्तिम समय मे हो जाने से पर्याप्त मनुष्य १०१ प्रकृतियो का वध करते है।

तीसरे मिश्र गुणस्थान मे पर्याप्त मनुष्य पर्याप्त तिर्यच के लिये वताये गये वधस्वामित्व के अनुसार दूसरे गुणस्थान की १०१ प्रकृतियो मे से देवायु तथा अनन्तानुवंधो कपाय के उदय से वॅधने वाली २५ प्रकृतियो तथा मनुष्यगति योग्य छह प्रकृतियो[1], कुल ३२ प्रकृतियो को कम करने से ६९ प्रकृतियो को वॉधते है।

यद्यपि पर्याप्त तिर्यच चौथे गुणस्थान मे तीसरे गुणस्थान की वंधयोग्य ६९ प्रकृतियो के साथ देवायु का वध करने के कारण ७० प्रकृतियों का बंध करते हैं। किन्तु पर्याप्त मनुष्य के उक्त ७० प्रकृतियों के साथ तीर्थङ्कर नामकर्म का भी वंध हो सकने से ७१ प्रकृतियों का वध करते है। क्योकि पर्याप्त तिर्यचो को चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व तो होता है, किन्तु तीर्थकर नामकर्म के वंधयोग्य अध्यवसायो का अभाव होने से तीर्थकर नामकर्म का वन्ध नही कर पाते है।

कर्मग्रन्थ भाग २ (कर्मस्तव) मे कहे गये वन्धाधिकार की अपेक्षा पर्याप्त मनुष्य और तिर्यच के तीसरे-मिश्र और चौथे-अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में इस प्रकार की विशेषता है—कर्मस्तव में तीसरे मिश्र गुणस्थान में ७४ और चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का वन्ध कहा गया है। परन्तु यहाँ तिर्यच मिश्रगुणस्थान में मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभ नाराच संहनन इन पॉच प्रकृतियो का अवन्ध होने से ६९ प्रकृतियों को वाँधते है और

---

१ 'सुराउ अण एगतीस विणु मीसे।' (तृतीय कर्मग्रन्थ गा० ८) इन ३२ प्रकृतियो के नाम पृष्ठ २८ पर दिये गये है।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे देवायु सहित ७० प्रकृतियो को एव मनुष्य मिश्र गुणस्थान मे ६९ और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म और देवायु सहित ७१ प्रकृतियो को बाँधते है। चौथे गुणस्थान की इन ७१ प्रकृतियो मे मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, वज्रऋषभनाराच संहनन और मनुष्यायु इन छह प्रकृतियो को मिलाने से कर्मस्तव बन्धाधिकार मे सामान्य से कही गई ७७ प्रकृतियो का तथा यहाँ पर्याप्त मनुष्य और तिर्यचो को तीसरे गुण-स्थान मे जो ६९ प्रकृतियो का बंध कहा गया है, उनमें पहले कही गई मनुष्यद्विक आदि छह प्रकृतियो मे से मनुष्यायु के सिवाय शेप पाँच प्रकृतियो को मिलाने से ७४ प्रकृतियो का बन्ध समझा जा सकता है।

पर्याप्त मनुष्य के पहले से चौथे गुणस्थान तक का बंधस्वा-मित्व को पूर्वोक्त प्रकार से समझना चाहिए और पाँचवे से लेकर तेरहवे गुणस्थान पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार मे कही गई बन्धयोग्य प्रकृतियो के अनुसार उतनी-उतनी प्रकृतियो का बन्ध समझ लेना चाहिए। जैसे कि पाँचवे गुण-स्थान में ६७, छठे गुणस्थान में ६३, सातवे में ५९ या ५८ इत्यादि। विशेप जानकारी के लिए दूसरे कर्मग्रन्थ का बन्धाधिकार देख ले।

पाँचवे गुणस्थान मे पर्याप्त मनुष्य के ६७ प्रकृतियो का और पर्याप्त तिर्यच के ६६ प्रकृतियो का बन्ध बतलाया गया है तथा दूसरे कर्मग्रन्थ मे भी पाँचवे गुणस्थान मे ६७ प्रकृतियो का बन्ध बतलाया गया है तो इस भिन्नता का कारण यह है कि पर्याप्त तिर्यचो के चौथे गुणस्थान मे सम्यक्त्व होने पर भी तीर्थङ्कर नाम-कर्म के बन्धयोग्य अध्यवसायो के न होने से ७० प्रकृतियो का बन्ध बताया गया है और उन ७० प्रकृतियो मे से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क को कम करने से ६६ प्रकृतियो का बन्ध कहा गया है जबकि पर्याप्त मनुष्य चौथे गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध कर सकते है। अतः सामान्य से बन्धयोग्य ७१ प्रकृतियो

अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क को कम करने से ६७ प्रकृतियो के बन्ध होने का कथन किया जाता है।

पर्याप्त तिर्यचो और मनुष्यो के बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब अपर्याप्त तिर्यचो और मनुष्यो के सामान्य तथा विशेष दोनो प्रकार से बन्धस्वामित्व को बतलाते है।

अपर्याप्त तिर्यच और अपर्याप्त मनुष्य—इनमे अपर्याप्त शब्द का मतलब लब्धि[1]—अपर्याप्त समझना चाहिए, करण-अपर्याप्त नही। क्योकि अपर्याप्त शब्द का उक्त अर्थ करने का कारण यह है कि अपर्याप्त मनुष्य तीर्थकर नामकर्म को भी बाँध सकता है।

इन लब्ध्यपर्याप्त तिर्यचों और मनुष्यो के सामान्य से तीर्थंकर नामकर्म, देवद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक—इन ग्यारह प्रकृतियो को बंधयोग्य १२० प्रकृतियो मे से कम करने पर १०९ प्रकृतियो का बन्ध होता है तथा अपर्याप्त अवस्था में सिर्फ मिथ्यात्व गुणस्थान ही होने से इस गुणस्थान मे भी १०९ प्रकृतियों का बंध कर सकते है। क्योकि मिथ्यादृष्टि होने से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक का बंध नही करते है तथा मरकर देवगति मे जाते नही, अतः देवद्विक, वैक्रियद्विक और देवायु का भी बध नही करते है। अपर्याप्त जीव नरकगति में उत्पन्न नही होते, अतः नरकत्रिक का भी बध नही करते है। इसलिए उक्त ग्यारह प्रकृतियों को कम करने से सामान्य को अपेक्षा और मिथ्यात्व गुणस्थान मे अपर्याप्त तिर्यचो और मनुष्यो के १०९ प्रकृतियो का बध माना जाता है।

साराश यह है कि मनुष्यगति मे पर्याप्त मनुष्यो के चौदह गुणस्थान होते है और सामान्य से १२० प्रकृतियो का बंध हो सकता है। लेकिन जब सिर्फ मनुष्यगति की अपेक्षा बंधस्वामित्व को

---

१ ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेप को लब्धि कहते है।

वतलाना हो तो पहले से लेकर पाचवें गुणस्थान तक पूर्व गाथा मे कहे गये पर्याप्त तिर्यचो के बंधस्वामित्व के अनुसार वध समझना चाहिए। लेकिन इतनी विशेषता है कि चौथे और पाचवे गुणस्थान मे पर्याप्त तिर्यच ७० और ६६ प्रकृतियो का वंध करते है, उसकी वजाय पर्याप्त मनुष्यों के चौथे गुणस्थान मे तीर्थंकर नामकर्म का भी वध हो सकने से ७१ तथा पाचवें गुणस्थान मे ६७ प्रकृतियो का वंध होता है। अर्थात् पर्याप्त मनुष्य पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे गुणस्थान मे १०१, तीसरे गुणस्थान मे ६९, चौथे गुणस्थान मे ७१ और पाँचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियो का वन्ध करते है और छठे गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक दूसरे कर्मग्रन्थ मे वताये गये वधाधिकार के समान वध समझना चाहिए।

अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यच के तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरक-त्रिक पर्यन्त ग्यारह प्रकृतियो का वन्ध हो नही होता है तथा पहला गुणस्थान होता है अत. सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा १०९ प्रकृतियो का वन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार मनुष्यगति मे वधस्वामित्व वतलाने के वाद अव आगे की गाथा में देवगति के वधस्वामित्व का वर्णन करते है—

निरय व्व सुरा नवरं ओहे मिच्छे इगिदितिगसहिया ॥
कप्पदुगे वि य एवं जिणहीणो जोइभवणवणे ॥१०॥

गाथार्थ—नारको के प्रकृतिवंध के ही समान देवों के भी बध समझना चाहिए। लेकिन सामान्य से और पहले गुणस्थान की वंधयोग्य प्रकृतियो में कुछ विशेषता है। क्योकि एकेन्द्रिय-त्रिक को देव वाँधते है, किन्तु नारक नही वाधते है। कल्पद्विक मे इसी प्रकार समझना चाहिए तथा, ज्योतिष्को, भवनपतियो और व्यंतर देव निकायो के, तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय अन्य सव प्रकृतियो का वध पहले और दूसरे देवलोक के देवों समान समझना चाहिए।

विशेषार्थ—अव देवगति मे सामान्य और गुणस्थानो की अपेक्षा बंधस्वामित्व वतलाते है। देवो के भवनवासी, व्यतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चार निकाय है और देवगति में भी नरकगति के समान पहले चार गुणस्थान होते है। अत सामान्य से वंधस्वामित्व वतलाने के वाद चारों निकायो में गुणस्थानो की अपेक्षा वंधस्वामित्व का वर्णन किया जा रहा है।

यद्यपि देवो का प्रकृतिवंध नारको के प्रकृतिवध के समान है। तथापि देवगति में एकेन्द्रियत्रिक—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम—का भी वंध हो सकने से सामान्य वंधयोग्य व पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकगति की अपेक्षा वन्धयोग्य प्रकृतियो में कुछ विशेषता होती है।

'निरय व्व सुरा' नारको की तरह देवो के भी वन्ध कहने का मतलव यह है कि जैसे नारक मरकर नरकगति और देवगति में उत्पन्न नही होते है, वैसे ही देव भी मरकर इन दोनो गतियो मे उत्पन्न नही होते है। इसलिए देवत्रिक, नरकत्रिक और वैक्रियद्विक—इन आठ प्रकृतियों का वन्ध नही करते है तथा सर्वविरत सयम के अभाव में आहारकद्विक का भी बंध नही करते है और देव मरकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रियो मे भी उत्पन्न नही होते है, जिससे सूक्ष्मत्रिक और विकलेन्द्रियत्रिक इन छह प्रकृतियो का वन्ध नही करते है। इस प्रकार उक्त कुल सोलह प्रकृतियाँ वन्धयोग्य १२० प्रकृतियो मे से कम करने पर सामान्य से १०४ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

नरकगति मे जो वन्धयोग्य १२० प्रकृतियों मे से सुरद्विक से लेकर आतप नामकर्म पर्यन्त १९ प्रकृतियो का वन्ध नही होने से १०१ प्रकृतियो का वन्ध कहा गया है। वहाँ एकेन्द्रियत्रिक—एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियो को भी ग्रहण किया गया है। लेकिन देव मरकर वादर एकेन्द्रिय मे उत्पन्न हो सकते है अतएव नारकियो की अपेक्षा एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप—इन तीन प्रकृतियों को देव अधिक वाँधते है। इसलिए नरकगति के

समान ही देवों के सामान्य से वन्ध मानकर भी नरकगति की अवन्ध्य उन्नीस प्रकृतियो मे मे एकेन्द्रियत्रिक का वन्ध होने से देवों के १०१ की वजाय १०४ का वन्ध माना जाता है।

इस प्रकार सामान्य से देवगति में जो १०४ प्रकृतियो का वन्ध वतलाया गया है, उसी प्रकार कल्पवासी देवो के पहले सौधर्म और दूसरे ईशान इन दो कल्पो तक समझना चाहिए।

सामान्य से वन्धयोग्य १०४ प्रकृतियो में मे देवगति तथा पूर्वोक्त कल्पद्विक के देवों के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थकर नामकर्म का वध न होने से १०३ प्रकृतियो का वन्ध होता है तथा शेप दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में नरकगति के समान ही क्रमशः ९६, ७० और ७२ प्रकृतियो का वंध होता है।

ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यतर निकाय के देवो के तीर्थकर नामकर्म का वंध नही होने से सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा १०३ प्रकृतियो का वन्ध समझना चाहिए। क्योंकि इन तीन निकायो के देव वहाँ से निकल कर तीर्थकर नही होते है और तीर्थकर नाम की सत्ता वाले जीव भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवनिकायो मे उत्पन्न नही होते है तथा इन तीन निकायों के जीव अवधिज्ञान सहित परभव मे जाते नही और तीर्थकर अवधिज्ञान सहित ही परभव मे जाकर उत्पन्न होते है। इसलिए इन तीन निकायो के देवो के तीर्थकर नामकर्म का वंध नही होता है।

इसलिए ज्योतिष्क आदि तीन निकायो के देवो के सामान्य से और पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे मे ७० और चौथे मे तीर्थकर नामकर्म का वध न होने से ७२ की वजाय ७१ प्रकृतियो का वध होता है।

सारांश यह है कि देवगति मे सामान्य की अपेक्षा नरकगति के समान वन्ध होने का नियम होने पर भी एकेन्द्रियत्रिक का वंध अधिक होता है। इसलिए जैसे नरकगति मे सामान्य से १०१

प्रकृतियों का बंध माना जाता है, उसकी अपेक्षा इन १०१ प्रकृतियो मे एकेन्द्रियत्रिक को और मिलाने पर १०४ प्रकृतियों का बंध समझना चाहिए।

इन १०४ प्रकृतियो का वन्ध सामान्य से कल्पवासी देवो तथा पहले और दूसरे कल्प के देवों को समझना चाहिए। लेकिन मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध नही होने से १०३ प्रकृतियो का दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय से वँधने वाली एकेन्द्रिय जाति आदि सात प्रकृतियो के नही वँधने से ९६ और इन ९६ प्रकृतियो मे से अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि २६ प्रकृतियो को कम करने से तीसरे गुणस्थान में ७० प्रकृतियो का वन्ध होता है और चौथे गुणस्थान में मनुष्यायु एवं तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध होने से मिश्र गुणस्थान की ७० प्रकृतियो में इन दो प्रकृतियो को जोडने से ७२ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

ज्योतिष्क, भवनपति और व्यंतर निकाय के देवों के तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध नही होता है। अत. इन तीनो निकायो के देवो के सामान्य से बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १०३ है तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में भी १०३ प्रकृतियो का वंध होता है। दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में कल्पवासी देवो के समान ही ९६ और ७० प्रकृतियो का और चौथे गुणस्थान मे तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध न होने से ७२ की वजाय ७१ प्रकृतियो का वन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से देवगति में सामान्य से तथा कल्पवासियो के कल्पद्विक तथा ज्योतिष्क भवनपति और व्यतर निकायों के गुणस्थानो की अपेक्षा बंधस्वामित्व वतलाने के बाद आगे की गाथा मे सनत्कुमारादि कल्पो और इन्द्रिय एवं काय मार्गणा में वन्धस्वामित्व का वर्णन करते है—

रयण व्व सणकुमाराई आणयाई उजोयचउरहिया।
अपजतिरिय व्व नवसयमिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥११॥

गाथार्थ—सनत्कुमारादि देवलोको में रत्नप्रभा नरक के नारकों के समान तथा आनतादि में उद्योत चतुष्क के सिवाय शेष बंध समझना चाहिए। एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, वनस्पति और विकलेन्द्रियों में अपर्याप्त तिर्यचो के समान १०९ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

विशेषार्थ इस गाथा में सनत्कुमार आदि तीसरे देवलोक से लेकर नवग्रैवेयक देवो पर्यन्त तथा इन्द्रियमार्गणा के एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय एव कायमार्गणा के पृथ्वी, जल, वनस्पति काय के जीवो के वन्धस्वामित्व को वतलाया गया है।

गाथा में सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक से नवग्रैवेयक तक के देवों के वन्धस्वामित्व का वर्णन दो विभागो में किया गया है। पहले विभाग में सनत्कुमार से लेकर आनत स्वर्ग के पूर्व सहस्रार तक के देवों को और दूसरे विभाग में आनत स्वर्ग से लेकर नवग्रैवेयक पर्यन्त देवो को ग्रहण किया है। यद्यपि गाथा में अनुत्तर विमानो के वारे में संकेत नही किया गया है, लेकिन अनुत्तर विमानों में सदैव सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते है और उनके चौथा गुणस्थान ही होता है। इसलिए कर्मप्रकृतियों के वन्ध मे न्यूनाधिकता न होने से सामान्य व गुणस्थान की अपेक्षा एक-सा ही वन्ध होता है। देवों के चौथे गुणस्थान मे ७२ प्रकृतियों का वन्ध होता है, अतः इनके भी वही समझना चाहिए।

उक्त दो विभागो में पहले विभाग के सनत्कुमार से सहस्रार देवलोक तक के देव जैसे रत्नप्रभा नरक के नारक सामान्य से और गुणस्थानो में जितनी प्रकृतियों का वन्ध करते है, वैसे ही उतनी प्रकृतियो का बन्ध इन देवो को समझना चाहिए। क्योकि ये देव उन-उन देवलोकों से चय कर एकेन्द्रिय में उत्पन्न नही होते है, इसलिए एकेन्द्रिय प्रायोग्य एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम – इन तीन प्रकृतियो का वन्ध नही करते है। इसलिए सामान्य से १०१ प्रकृतियों को वाँधते है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थकर नाम-

कर्म से रहित १००, सास्वादन गुणस्थान मे नपुंसक चतुष्क के विना ९६ और मिश्र गुणस्थान मे अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि २६ से रहित ७० और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे मनुष्यायु, तीर्थंकर नामकर्म का भी वध होने से ७२ प्रकृतियो को वॉधते है।

आनतादि नवग्रैवेयक पर्यन्त के देव उद्योत चतुष्क-उद्योतनाम, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी और तिर्यचायु इन चार प्रकृतियो को नही वॉधते है। क्योकि इन स्वर्गो से च्यव कर ये देव मनुष्य मे ही उत्पन्न होते है, तिर्यचो में नही। अतः तिर्यच योग्य इन चार प्रकृतियो को नही वॉधते है। इसलिए १२० प्रकृतियों मे सुरद्विक आदि उन्नीस और उद्योत आदि चार प्रकृतियों को कम करने से ९७ प्रकृतियो का सामान्य से बंध करते है और गुणस्थानो की अपेक्षा पहले मे ९६, दूसरे मे ९२, तीसरे में ७० और चौथे मे ७२ प्रकृतियो का बंध करते है।

अनुत्तर विमानो में सम्यक्त्वी जीव ही उत्पन्न होते है और सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथा गुणस्थान होता है। अत. इनके सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा ७२ प्रकृतियो का वन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से गतिमार्गणा मे वंधस्वामित्व बतलाने के वाद अब आगे इन्द्रिय और काय मार्गणा में वन्धस्वामित्व को वतलाते है।

इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा कायमार्गणा मे पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के जीव अपर्याप्त तिर्यचों के समान १०९ प्रकृतियो का बंध करते है।[1] क्योकि अपर्याप्त तिर्यच या मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११ प्रकृतियो का वन्ध नही करते है, इसी प्रकार यह सातों मार्गणा वाले जीवों के सम्यक्त्व नही है तथा देवगति और

---

१ जिण इक्कारस हीण नवसउ अपजत्ततिरियनरा।

—कर्मग्रन्थ ३, गा० ९

नरकगति मे उत्पन्न नही होते है, इसलिए तीर्थंकर नाम, देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपाग, आहारक शरीर, आहारक अंगोपाग इन ग्यारह प्रकृतियो का वन्ध नही करते है। इसलिए इनके सामान्य से व मिथ्यात्व गुणस्थान में १०६ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

सारांश यह कि सनत्कुमार से लेकर सहस्रार देवलोक पर्यन्त के देव रत्नप्रभा नरक के नारको के समान ही सामान्य से १०१ प्रकृतियो का और मिथ्यात्व गुणस्थान मे १००, सास्वादन गुणस्थान मे ९६, मिश्र गुणस्थान मे ७० तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे ७२ प्रकृतियो का वंध करते है।

आनत से लेकर नव ग्रैवेयक तक के देव तिर्यचगति मे उत्पन्न नही होते है। अत: तिर्यंचगतियोग्य उद्योत, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी और तिर्यचायु का वंध नही करते है अत सनत्कुमारादि देवो मे सामान्य से वंधयोग्य वताई गई १०१ प्रकृतियों मे से इन चार प्रकृतियो को भी कम करने से सामान्य से ९७ प्रकृतियो का वध करते है। गुणस्थानो की अपेक्षा आनत आदि कल्पो के देवो में वंधस्वामित्व क्रमश· ९६, ९२, ७०, ७२ प्रकृतियो का समझना चाहिए।

अनुत्तर विमानो में सम्यक्त्वी जीव उत्पन्न होते है और उनके चौथा गुणस्थान होता है। अत: उनके सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा पूर्व मे कहे गये देवो के चौथे गुणस्थान के वंधस्वामित्व के समान ७२ प्रकृतियो का वंध समझना चाहिए।

गतिमार्गणा के प्रभेदो में वंधस्वामित्व को वतलाने के वाद क्रमप्राप्त इन्द्रिय और काय मार्गणा में बंधस्वामित्व का कथन किया है।

इन्द्रियाँ पाँच होती है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र और जिस जीव को क्रम से जितनी-जितनी इन्द्रियाँ होती है, उसको

उतनी इन्द्रियों वाला जीव कहते है; जैसे—जिसके पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है उसे एकेन्द्रिय, जिसके स्पर्शन, रसना यह दो इन्द्रियाँ होती हैं, उसे द्वीन्द्रिय कहते है। इसीप्रकार क्रम-क्रम से एक इन्द्रिय को वढाते जाने पर पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते है। इन एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में मे इस गाथा में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवो का तथा कायमार्गणा के पहले वताये गये छह भेदो मे से पृथ्वीकाय, अपकाय और वनस्पतिकाय—इन तीन कायों का वधस्वामित्व वतलाया गया है।

ये एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक तथा पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकाय कुल सात प्रकार के जीवो मे पहले गतिमार्गणा मे कहे गये अपर्याप्त तिर्यचो के वंधस्वामित्व के समान ही १०९ प्रकृतियो का सामान्य से वध समझना चाहिए तथा अपर्याप्त तिर्यचो के पहले गुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यचो के समान १०९ प्रकृतियो का वंध समझना चाहिए।

इस प्रकार गतिमार्गणा मे सनत्कुमार से अनुत्तर तक के देवो तथा इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियो और कायमार्गणा में पृथ्वीकाय, अपकाय और वनस्पतिकाय के बंधस्वामित्व को बतलाने के वाद अब आगे की गाथा में एकेन्द्रिय आदि का सास्वादन गुणस्थान की अपेक्षा वन्धस्वामित्व सम्वन्धी मन्तान्तर वतलाते है -

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं।
तिरियनराऊहिं विणा तणुपज्जत्तिं[1] न ते जंति ॥१२॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त एकेन्द्रिय आदि जीव सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह प्रकृतियों के विना सास्वादन गुणस्थान में ९६ प्रकृतियो का वन्ध करते है। किन्ही आचार्यो का मत है कि वे शरीर पर्याप्ति पूर्ण नही करते है, अतः तिर्यच आयु और मनुष्यायु के विना ९४ प्रकृतियो का वन्ध करते है।

[1] 'न जंति जओ' ऐसा भी पाठ है।

विशेषार्थ—इस गाथा में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वी, अप् और वनस्पति काय के जीवो के सास्वादन गुणस्थान में वन्धस्वामित्व को वतलाया है ।

पूर्व गाथा मे एकेन्द्रिय आदि जीवो के सामान्य से और गुण-स्थान की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यचो के समान १०९ प्रकृतियो का वन्ध वतलाया था । इन १०९ प्रकृतियो मे से सास्वादन गुणस्थान मे सूक्ष्मत्रिक,[1] विकलत्रिक,[2] एकेन्द्रिय जाति स्थावर नाम, आतप नाम, नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुंड संस्थान और सेवार्त संहनन ये १३ प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के उदय से वँधती है, किंतु सास्वादन गुणस्थान मे मिथ्यात्व का उदय न होने से, इनको कम करने पर ९६ प्रकृतियो का वन्ध करते है । क्योकि भवनपति, व्यतर आदि देव जाति के देव मिथ्यात्व निमित्तक एकेन्द्रिय प्रायोग्य आयु का वन्ध करने के अनन्तर सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वे मरण के समय सम्यक्त्व का वमन करके एकेन्द्रिय रूप में उत्पन्न होते है । उनके शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने के पहले सास्वादन सम्यक्त्व हो तो वे ९६ प्रकृतियो का वन्ध करते है ।

लेकिन दूसरे आचार्यो का मत है कि ये एकेन्द्रिय आदि दूसरे गुणस्थान के समय तिर्यच आयु और मनुष्य आयु का भी वन्ध नही करने से ९४ प्रकृतियों का वन्ध करते है ।[3] इसी ग्रन्थ मे आगे औदारिकमिश्र मे भी सास्वादन गुणस्थान में आयुवन्ध का निषेध किया है, क्योकि वह अपर्याप्त है । यह सिद्धान्त है कि कोई भी जीव इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी किये विना आयु का वन्ध नही कर सकते है ।

---

१ सूक्ष्म नाम, साधारण नाम, अपर्याप्त नाम

२. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय

३. सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ सुहुमतेर ।

—कर्मग्रन्थ ३, गाथा १४

९६ और ९४ प्रकृतियों के वन्धस्वामित्व की मतभिन्नता प्राचीन वंधस्वामित्व मे भी देखी जाती है। इस सम्वन्धी गाथाएँ निम्न प्रकार है—

साणा वंधहि सोलस नरतिग हीणा य मोत्तु छन्नउइं।
ओघेणं वीसुत्तर सय च पंचिंदिया वंधे ॥२३॥
इगविगलिंदी साणा तणु पज्जत्ति न जंति जं तेण।
नर तिरयाउ अवंधा मयंतरेणं तु चउणउइं ॥२४॥

९६ प्रकृतियो का वन्ध मानने वालों का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण हो चुकने के वाद, जवकि आयुवंध का काल आता है, तव तक सास्वादन भाव वना रहता है। इसलिए सास्वादन गुणस्थान मे एकेन्द्रिय आदि जीव तिर्यंच आयु तथा मनुष्य आयु का वन्ध कर सकते है।

लेकिन ९४ प्रकृतियो का वंध मानने वाले आचार्यो का मत है कि एकेन्द्रिय जीव का जघन्य आयुष्य २५६ आवलिका होता है। आगामी भव का आयूष्य इस भव के आयुष्य के दो भाग वीत जाने के वाद तीसरे भाग में बँधता है, अर्थात् आगामी भव का आयुष्य २५६ आवलिका के दो भाग १७० समय वीत जाने के वाद तीसरे भाग की १७१ वी आवली में बँधता है और सास्वादन सम्यक्त्व का समय छह आवली पहले ही पूरा हो जाता है। सास्वादन अवस्था मे पहली तीन पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है, यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी आयुष्य वन्ध सम्भव नही माना जा सकता है तथा औदारिकमिश्र मार्गणा मे ९४ प्रकृतियो का बंध कहा गया है। अतः ९४ प्रकृतियो के बध का मत युक्तिसंगत मालूम होता है इसी मत के समर्थन में श्री जीवविजय जी तथा जयसोमसूरि ने अपने टबे मे यही वात कही है। इसी मत का समर्थन गोम्मटसार कर्मकाण्ड में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी किया है—

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु ससाणो देहे।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥११३॥

(एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय, अर्थात् दो इन्द्री, तेइन्द्री, चोइन्द्री मे, लब्धि अपर्याप्तक अवस्था की तरह बन्धयोग्य १०९ प्रकृतियाँ समझना, क्योंकि तीर्थंकर, आहारकद्वय, देवायु, नरकायु और वैक्रिय षट्क इस तरह ग्यारह प्रकृतियो का बन्ध नही होता और एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय में उत्पन्न हुआ जीव सास्वादन गुणस्थान मे देह (शरीर) पर्याप्ति को पूरा नही कर सकता है। क्योंकि सास्वादन काल थोडा है और निर्वृत्ति-अपर्याप्त अवस्था का काल बहुत है। इस कारण इस गुणस्थान में मनुष्यायु तथा तिर्यचायु का भी बन्ध नही होता है।

उक्त दोनो मतो का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

—"एकेन्द्रिय आदि मे सास्वादन गुणस्थान में ९६ और ९४ प्रकृतियो के बंध विषयक मतो मे से ९६ प्रकृतियो के बन्ध वालो का मतव्य यह है कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद भी सास्वादन रहता है और उस समय आयुष्य का बन्ध करे तो ९६ प्रकृतियो का बन्ध हो। इसमें यह प्रतीत होता है कि छह आवलिका मे अन्तर्मुहूर्त मध्यम हो जाता है, इसलिए शरीर पर्याप्ति छह आवलिका में पूर्ण हो जाती है, उसके बाद आयुष्य का बन्ध होता है, ऐसा मालूम होता है। परन्तु श्री जीवविजय जी और जयसोमसूरि ने अपने टबे में तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड में यह मत प्रदर्शित किया है कि एकेन्द्रिय आदि की जघन्य आयु २५६ आवलिका प्रमाण है और उसके दो भाग अर्थात् १७० आवलिकाएँ बीतने पर आयुबन्ध सभव है। परन्तु उसके पहले ही सास्वादन सम्यक्त्व चला जाता है, क्योंकि वह उत्कृष्ट छह आवलिका पर्यन्त रहता है। इसलिये सास्वादन अवस्थ मे ही शरीर और इन्द्रिय पर्याप्ति का पूर्ण बन पाना भी लिया जाये तथापि सास्वादन अवस्था में आयु बन्ध किसी तरह संभव नही है। इसके प्रमाण मे औदारिकमिश्र मार्गणा के सास्वादन गुणस्थान सबन्धी ९४ प्रकृतियो के बन्ध का उल्लेख किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी बताया है कि एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय मे पैदा हुआ सास्वादन सम्यक्त्वी जीव शरीर पर्याप्ति

को पूरी नही कर सकता है, इससे उसको उस अवस्था मे मनुष्यायु और तिर्यचायु का वन्ध नही होता है।"

उक्त प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ९४ के वन्ध का पक्ष विशेप सम्मत है और युक्तियुक्त प्रतीत होता है। फिर भी ९६ प्रकृतियो के वन्ध को मानने वाले आचार्यो का क्या अभिप्राय है, यह केवलीगम्य है।

साराश यह है कि एकेन्द्रिय, विकलत्रय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के जीव सास्वादन गुणस्थान मे सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह प्रकृतियो को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की बधयोग्य १०९ प्रकृतियो मे से कम करने पर ९६ प्रकृतियो को बाँधते है तथा किन्ही-किन्ही आचार्यो का मत है कि इन एकेन्द्रिय आदि वनस्पति काय पर्यन्त सात मार्गणा वाले जीवो के सास्वादन गुणस्थान में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने से परभव सम्वन्धी मनुष्यायु और तिर्यचायु का भी वन्ध नही होता है। अतः ९४ प्रकृतियो का बंध करते है।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय आदि के वधस्वामित्व का कथन करने के वाद आगे की गाथा पचेन्दिय, गतित्रस और योग मार्गणा सम्वधी बधस्वामित्व को बतलाते है—

ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा।
मणवयजोगे ओहो उरले नरभगु तम्मिस्से ॥१३॥

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय जाति व त्रसकाय में ओघ—वधाधिकार मे वताये गये बंध के समान वन्ध जानना तथा गतित्रस मे जिन-एकादश तथा मनुष्यत्रिक एवं उच्चगोत्र के सिवाय शेष १०५ प्रकृतियो का वध होता है तथा मनोयोग और वचनयोग मे ओघ—वधाधिकार के समान तथा औदारिक काययोग मे मनुष्य गति के समान वन्ध समझना और औदारिक मिश्र में वन्ध का वर्णन आगे की गाथा में करते है।

विशेषार्थ—इस गाथा में पंचेन्द्रिय जाति, त्रसकाय, गतित्रस के वन्ध का कथन करने के साथ योगमार्गणा में वन्ध के कथन का प्रारभ किया गया है ।

पचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय का वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार में सामान्य से तथा गुणस्थानो की अपेक्षा कहे गये वध के अनुसार ही समझना चाहिए, अर्थात् जैसा कर्मग्रथ दूसरे भाग मे सामान्य से १२० और विशेष रूप से गुणस्थानो मे पहले से लेकर तेरहवे पर्यन्त कमशः ११७, १०१, ७४, ७७ आदि प्रकृतियो का वध कहा है, वैसा ही पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में सामान्य से १२० और गुणस्थानो मे क्रमश. ११७, १०१, ७४, ७७ आदि प्रकृतियो का वन्ध समझना चाहिये । इसो तरह आगे भी जिस मार्गणा मे वंधाधिकार के समान वंध-स्वामित्व कहा जाय, वहाँ उस मार्गणा मे जितने गुणस्थानों की सभावना हो, उतने गुणस्थानों मे वंधाधिकार के समान वन्ध-स्वामित्व समझ लेना चाहिये ।

शास्त्र मे त्रस जीव दो प्रकार के माने गये है—गतित्रस, लब्धि-त्रस । जिन्हे त्रस नामकर्म का उदय होता है और जो चलते-फिरते भी है, उन्हे लब्धित्रस[1] तथा जिनको उदय तो स्थावर नामकर्म का होता है, परन्तु गतिक्रिया पाई जाती है, उन्हे गतित्रस कहते है। उक्त दोनो प्रकार के त्रसो में से लब्धित्रसों के बंधस्वामित्व को वतलाया जा चुका है। अव गतित्रस के वन्धस्वामित्व को वतलाते है ।

गतित्रस के दो भेद है—तेउकाय और वायुकाय । इन दोनो के स्थावर नामकर्म का उदय है। लेकिन गति साधर्म्य से उनको गतित्रस कहते है।

---

१ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, ये लब्धित्रस कहलाते है। इनको त्रस नामकर्म का उदय है ।

इन दोनो त्रसों के सामान्य से वन्धयोग्य १२० प्रकृतियो में से जिन एकादश अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११ प्रकृतियो तथा मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ प्रकृतियो का वन्ध नही होता है। अतः १२० प्रकृतियो मे से १५ प्रकृतियो का कम करने से १०५ प्रकृतियों का बंध होता है।

तीर्थंकर नामकर्म आदि १५ प्रकृतियो के बंध न होने का कारण यह है कि तेउकाय और वायुकाय के जीव देव, मनुष्य और नारकों में उत्पन्न नही होते है, इसलिए उनके योग्य १४ प्रकृतियो का बंध नही करते है। तेउकाय और वायुकाय जीव तिर्यंचगति में उत्पन्न होते है तथा वहाँ भव निमित्तक नीच गोत्र उदय में होता है, इसलिए उच्च गोत्र का वन्ध नही कर सकते है।

इन दोनो गतित्रसों के सिर्फ मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है, सास्वादन गुणस्थान नही होता है, क्योकि सम्यक्त्व का वमन करता हुआ कोई जीव इस गुणस्थान में आकार उत्पन्न नही होता है। इसलिए सामान्य से जैसे तेउकाय और वायुकाय के जीव १०५ प्रकृतियों को बाँधते है, उसी प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान मे भी १०५ प्रकृतियो का बंध होता है।

कायमार्गणा में वन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब योगमार्गणा मे प्रकृति वन्ध बतलाते हैं।

योग के मूल में मनोयोग, वचनयोग और काययोग—ये तीन मुख्य भेद है और इनमें भी मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात भेद होते है। मनोयोग और मनोयोग सहित वचन योग इन दो भेदो में तेरह गुणस्थान होते है, अतः उनमें दूसरे कर्मग्रंथ मे बतलाये गये बंध के अनुसार ही वन्ध समझना चाहिये।

गाथा के 'मणवयजोगे ओहो उरले नरभंगु' पद में मणवयजोगे तथा उरले—ये दोनो पद सामान्य है। तथापि 'ओहो' और 'नरभगु' पद के सान्निध्य से 'वयजोग' का मतलब मनोयोग सहित वचनयोग

और उरल का मतलव मनोयोग, वचनयोग सहित औदारिक काय-योग समझना चाहिये और उसी दृष्टिकोण की अपेक्षा वन्धस्वामित्व का विचार किया गया है। लेकिन वयजोग से केवल वचनयोग और उरल से केवल औदारिक काययोग ग्रहण किया जाय तो मनोयोग रहित वचनयोग में वन्धस्वामित्व विकलेन्द्रिय के समान और काययोग मे एकेन्द्रिय के समान समझना चाहिए। अर्थात् जैसे विकलेन्द्रियों और एकेन्द्रिय में क्रमश सामान्य से १०६, मिथ्यात्व गुणस्थान में १०६ और सास्वादन गुणस्थान में ६६ अथवा ६४ प्रकृतियो का वन्ध वतलाया है उसी प्रकार इनमें भी वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

सारांश यह है कि पंचेन्द्रिय तथा त्रस मार्गणा में सामान्य वंधाधिकार के समान वंध समझना और गतित्रसों में जिन एकादश, मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ प्रकृतियो को कम करने से १०५ प्रकृतियो का सामान्य से और पहले गुणस्थान मे वध होता है।

योग मार्गणा में मनोयोग, वचनयोग सहित औदारिक काय-योग वालो के पर्याप्त मनुष्य मे कहे गये वन्ध के समान ही वन्ध समझना। केवल वचनयोग और काययोग का वन्धस्वामित्व एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियो के समान वताए गए वन्ध के समान समझना चाहिए।

इस प्रकार मन, वचन व उन सहित औदारिक काययोग मे पूर्ण रूप से तथा काययोग मे औदारिक काययोग का वन्धस्वामित्व वतलाने के वाद आगे काययोग के शेष भेदो मे वन्धस्वामित्व वतलाते है। उनमें से सर्वप्रथम औदारिकमिश्र काययोग का वन्ध-स्वामित्व वतलाते है—

आहारछग विणोहे चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं।
सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ[1] सुहुमतेर ॥१४॥

---

१ तिरिअनराऊ —इति पाठान्तरम्

गाथार्थ—(पूर्व गाथा से तम्मिसे पद यहां लिया जाय) औदारि मिश्रयोग में सामान्य से आहारकपट्क के विना ११४ प्रकृति का वन्ध होता है और मिथ्यात्व गुणस्थान मे जिननामपच से हीन १०९ प्रकृतियो का वन्ध मानना चाहिए तथा मनुष्यायु और तिर्यचायु तथा सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह कुल १५ प्रकृतियो के सिवाय ९४ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

विशेषार्थ—गाथा मे औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा मे सामान्य रूप से और पहले, दूसरे गुणस्थान में वधस्वामित्व का कथन किया गया है।

पूर्व भव से आने वाला जीव अपने उत्पत्ति स्थान में प्रथम समय मे केवल कार्मणयोग द्वारा आहार ग्रहण करता है। उसके बाद औदारिक काययोग की शुरूआत होती है, वह शरीरपर्याप्ति वनने तक कार्मण के साथ मिश्र होता है और केवलि समुद्घात अवस्था में दूसरे, छठे और सातवे समय मे कार्मण के साथ औदारिकमिश्र योग होता है।

औदारिकमिश्र काययोग मनुष्य और तिर्यचों के अपर्याप्त अवस्था में ही होता है और इसमे पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां ये चार गुणस्थान होते हैं।

औदारिकमिश्र काययोग में सामान्य से आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपाग, देवायु और नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु इन छह को बंधयोग्य १२० प्रकृतियो मे से कम करने से ११४ प्रकृतियों का बध होता है। क्योकि विशिष्ट चारित्र के अभाव में तथा सातवे गुणस्थान में वन्ध होने से आहारकद्विक का औदारिकमिश्र काययोग में वन्ध नही हो सकता तथा देवायु और नरकत्रिक—इन चार प्रकृतियों का बंध सम्पूर्ण पर्याप्ति पूर्ण किये विना नही होता है, अतः इन छह प्रकृतियो का ंध औदारिकमिश्र काययोग में नही माना जाता है।

औदारिकमिश्र काययोग में पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के समय जिनपंचक—तीर्थङ्कर नामकर्म, देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग को सामान्य से बंधयोग्य ११४ प्रकृतियों मे से कम करने पर १०९ प्रकृतियो का बंध होता है।

औदारिकमिश्र काययोग में जो १०९ प्रकृतियो का बंधस्वामित्व मिथ्यात्व गुणस्थान में माना गया है,उसमें से मनुष्यायु और तिर्यंचायु का भी ग्रहण किया गया है। इस सम्बन्ध मे शीलाकाचार्य का मत है कि औदारिकमिश्र काययोग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने के पूर्व तक होता है।[1]

श्री भद्रबाहुस्वामी ने भी इसी मत के समर्थन में युक्ति दी है कि—

जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो।
तेण परं मीसेणं जाव सरीर निपफत्ती ॥

इसको लेकर श्री जीवविजयजी ने अपने टबे में शंका उठाई है कि औदारिकमिश्र काययोग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त रहता है, आगे नही और आयुबंध शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी हो जाने के बाद होता है, पहले नही। अतएव औदारिकमिश्र काययोग के समय, अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व में आयु का बंध सभव नही है। इसलिए उक्त दो आयुओ का १०९ प्रकृतियो मे ग्रहण विचारणीय है।

लेकिन यह कोई नियम नही है कि शरीर पर्याप्ति पूरी होने पर्यन्त औदारिकमिश्र काययोग माना जाय, आगे नही।

श्री भद्रबाहुस्वामी ने जो युक्ति दी है उसमें शरीर निपफत्ती पद का यह अर्थ नही है कि शरीर पूर्ण बन जाने पर्यन्त उक्त योग रहता है। शरीर की पूर्णता केवल शरीर पर्याप्ति के बन जाने से नही हो सकती है। इसके लिए जीव का अपने-अपने योग्य इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन सब पर्याप्तियों के पूर्ण हो जाने से ही शरीर का

---

१ औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वम्।

पूरा वन जाना माना जा सकता है । सरीर निपफत्ती पद का यह अर्थ स्वकल्पित नही है । इस अर्थ का समर्थन स्वयं ग्रन्थकार श्री देवेन्द्रसूरि ने स्वरचित चौथे कर्मग्रन्थ की चौथी गाथा[१] के 'तणुपज्जेसु उरलमन्ने' इस अंश की निम्नलिखित टीका मे किया है—

यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापीन्द्रियोच्छ्वासादीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वादतएव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वादौदारिक मिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानकमिति ।

जव यह भी पक्ष है कि स्वयोग्य सव पर्याप्तियां पूरी हो जाने तक औदारिकमिश्र काययोग रहता है, तव औदारिकमिश्र काययोग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त रहता है, आगे नही और आयुबंध शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के वाद होता है, पहले नही —इस संदेह को कुछ भी अवकाश नही रहता है। क्योंकि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण वन जाने के वाद जव कि आयुवध का अवसर आता है, तव भी औदारिकमिश्र काययोग तो रहता ही है। इसलिये औदारिकमिश्र काययोग में सिथ्यात्व गुणस्थान के समय मनुष्यायु और तिर्यचायु— इन दो आयुओं का वन्धस्वमित्व माना जाना इस पक्ष की अपेक्षा युक्त ही है ।

मिथ्यात्व गुणस्थान के समय औदारिकमिश्र काययोग मे उक्त दो आयुओ के बध का पक्ष जैसा कर्मग्रन्थ में निर्दिष्ट किया गया है, वैसा हो गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे शी बताया है—

ओराले वा मिस्से ण सुरणिरयाउहार णिरयदुगं ।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि ।।११६।।

अर्थात् औदारिकमिश्र काययोग मे औदारिक काययोगवत् रचना जानना । विशेष वात यह है कि देवायु, नरकायु,आहारकद्विक, नरकगति, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियो का वन्ध भी नही होता है,

---

१ अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते ।
सविउव्वमीस एसुं तणुपज्जेसु उरलमन्ने ।।

अर्थात् ११४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। इनमें भी मिथ्यात्व और सास्वादन - इन दो गुणस्थानों में देवचतुष्क और तीर्थंकर नामकर्म इन पाँच प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, परन्तु चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में इनका बन्ध होता है।

उक्त कथन की पुष्टि श्री जयसोमसूरि ने अपने टवे में भी की है। उन्होंने लिखा है कि 'यदि यह पक्ष माना जाय कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक ही औदारिकमिश्र काययोग रहता है तो मिथ्यात्व मे तिर्यंचायु तथा मनुष्यायु का बन्ध कथमपि नही हो सकता है। इसलिए इस पक्ष की अपेक्षा उस योग में सामान्य रूप से ११२ और मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७ प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व समझना चाहिये।' इस कथन से स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण वन जाने पर्यन्त औदारिकमिश्र काययोग रहता है—इस पक्ष की स्पष्ट सूचना मिलती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि औदारिकमिश्र काययोग में सामान्य से वधयोग्य ११४ प्रकृतियाँ और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०९ प्रकृतियाँ वधयोग्य मानना युक्तिसंगत है।

पहले गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग का वंधस्वामित्व वतलाने के वाद अव दूसरे सास्वादन गुणस्थान मे वन्धस्वामित्व वतलाते हैं। इस गुणस्थान में मनुष्यायु और तिर्यचायु का वन्ध नही होता है। क्योकि सास्वादन गुणस्थान मे वर्तता जीव शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं करता है। क्योकि शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के वाद आयुबन्ध होना संभव है तथा यहाँ मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यात्व के उदय से वन्धने वाली सूक्ष्मत्रिक से लेकर सेवार्त संहनन पर्यन्त १३ प्रकृतियो का भी वन्ध नहीं होता है। अतः उक्त दो और तेरह कुल पन्द्रह प्रकृतियो को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की बन्धयोग्य १०९ प्रकृतियो में से कम करने पर ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। अर्थात् उक्त १५ प्रकृतियो में से १३ प्रकृतियों का विच्छेद मिथ्यात्व गुणस्थान के चरम समय मे हो जाने से तथा दो आयु अबन्ध औदारिकमिश्र काययोग वाले के दूसरे सास्वादन गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

सारांश यह है कि औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा मे सामान्य से ११४ प्रकृतियां वन्धयोग्य है और इस योग वाले के पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां—ये चार गुणस्थान होते है। इनमे से पहले गुणस्थान मे १०६ तथा दूसरे गुणस्थान में ६४ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

इसप्रकार औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा मे सामान्य से तथा गुणस्थान की अपेक्षा पहले, दूसरे गुणस्थान में वन्धस्वामित्व वतलाने के वाद आगे की गाथा में चौथे और तेरहवे गुणस्थान में वन्धस्वामित्व वतलाते है। साथ ही कार्मण काययोग और आहारक काययोगद्विक मे भी वन्धस्वामित्व वतलाते है—

अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं।
विणु तिरिनराउ कम्मे वि एवमाहारदुगि ओहो ॥१५॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त ६४ प्रकृतियो में से अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि चौवीस प्रकृतियों को कम करके शेष रही प्रकृतियो मे तीर्थकरनामपचक के मिलाने से औदारिकमिश्र काय योग में चौथे गुणस्थान के समय ७५ प्रकृतियों का तथा सयोगि केवली गुणस्थान मे सिर्फ एक सातावेदनीय का वन्ध होता है। कार्मण काययोग मे तिर्यचायु और मनुष्यायु के विना और सव प्रकृतियो का वन्ध औदारिकमिश्र काययोग के समान ही है और आहारकद्विक मे गुणस्थानों मे वताये वन्ध के समान वन्ध समझना चाहिए।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा और इस गाथा से मिलाकर औदारिकमिश्र काययोग के पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवे गुणस्थान के वंधस्वामित्व का विचार किया गया है। दूसरे गुणस्थान में ६४ प्रकृतियो का वन्ध वतलाया गया हे, उनमें से अनन्तानुवन्धी चतुष्क से लेकर तिर्यचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियो को[1] कम करने से ७० प्रकृतियाँ शेष

१ तृतीय कर्मग्रथ, गा० ३ के अनुसार

रहती है, और उनमें जिनपंचक—तीर्थंकर नामकर्म, देवद्विक और वैक्रियद्विक को मिलाने से ७५ प्रकृतियों का वन्ध चौथे गुणस्थान में होता है।

शंका—चौथे गुणस्थान के समय औदारिकमिश्र काययोग में जिन ७५ प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व कहा है, उनमे मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन; इन पांच प्रकृतियों का समावेश है। इस पर श्री जीवविजय जी ने अपने टवे में शंका उठाई है कि चौथे गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोगी उक्त पांच प्रकृतियों को वाँध नही सकता है। क्योंकि तिर्यंच तथा मनुष्य के सिवाय दूसरो में यह योग संभव नही है और तिर्यच और मनुष्य इस गुणस्थान में उक्त पांच प्रकृतियों को वाँध नही सकते हैं, अतएव तिर्यचगति और मनुष्यगति में चौथे गुणस्थान के समय क्रम से जो ७० और ७१ प्रकृतियो का वन्धस्वामित्व कहा गया है। उसमे उक्त पाँच प्रकृतियाँ नही आती है।

इसका समाधान श्री जयसोमसूरि ने अपने टवे में किया है कि गाथागत 'अणचउवीसाइ' इस पद का अर्थ 'अनन्तानुवन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ' यह नही करना चाहिए, किन्तु 'आइ' शब्द से और भी पांच प्रकृतियाँ लेकर अनन्तानुवन्धी आदि २४ तथा मनुष्यद्विक आदि पाँच कुल २९ प्रकृतियाँ यह अर्थ करना चाहिये। ऐसा अर्थ करने से उक्त सन्देह नही रहता। क्योंकि ९४ में से २९ घटाने से शेष रही ६५ प्रकृतियो में जिनपचक मिलाने से ७० प्रकृतियाँ होती हैं, जिनका वन्धस्वामित्व उस योग में उक्त गुणस्थान के समय किसी तरह विरुद्ध नही है। यह समाधान प्रामाणिक जान पड़ता है।

दूसरी वात यह है कि मूल गाथा मे ७५ संख्या का वोधक कोई पद नही है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी दूसरे गुणस्थान में २९ प्रकृतियो का विच्छेद मानते है—

पण्णारसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदो चउरो।

—गो० कर्मकाण्ड, गाथा

यद्यपि टीका[1] में ७५ प्रकृतियो के वन्धस्वामित्व का निर्देश स्पष्ट किया है—'प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुवन्ध्यादिचतुर्विंशति-प्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृतिपंचकयुता च पचसप्ततिस्तामौदा-रिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे वध्नाति' तथा वन्धस्वामित्व नामक प्राचीन तीसरे कर्मग्रथ (गाथा २८-२९) मे भी ७५ प्रकृतियो के ही वन्ध का विचार किया गया है। इसीप्रकार प्राचीन वन्धस्वामित्व की टीका मे भी श्री गोविन्दाचार्य ने भी इस विपय में किसी प्रकार का शंका-समाधान नही किया है। इससे जान पड़ता है कि इस विषय को योही विना विशेप विचार किये परम्परा से मूल और टीका में चला आया है। इस ओर कर्मग्रंथकारो को विचार करना चाहिए। तबतक श्री जयसोमसूरि के समाधान को महत्त्व देने मे कोई हानि नही है।

औदारिकमिश्र काययोग के स्वामी मनुष्य और तिर्यच है और चौथे गुणस्थान में उनको क्रमशः ७१ और ७० प्रकृतियो का वंध कहा है। तथापि औदारिकमिश्र काययोग में चौथे गुणस्थान के समय ७१ प्रकृतियों का बंध न मानकर ७० प्रकृतियो के बंध को मानने का समर्थन इसलिए किया जाता है कि यह योग अपर्याप्त अवस्था में होता है और अपर्याप्त अवस्था मे मनुष्य अथवा तिर्यच देवायु का बंध नही कर सकते है। क्योंकि तिर्यच तथा मनुष्य की बंधयोग्य प्रकृतियों में देवायु परिगणित है। परन्तु औदारिकमिश्र काययोग की बंधयोग्य प्रकृतियो में से उसको निकाल दिया है।

तेरहवे गुणस्थान मे औदारिकमिश्र काययोग में एक साता-वेदनीय प्रकृति का वंध होता है।

औदारिकमिश्र काययोग मे उक्त बंधस्वामित्व का कथन कर्म-ग्रन्थ के मतानुसार किया गया है। लेकिन सिद्धान्त के मतानुसार

---

[1] उक्त टीका मूलकर्त्ता श्री देवेन्द्रसूरि की नही है।

इस योग में और भी दो (पांचवां, छठा) गुणस्थान माने जाते हैं। इस सम्बन्ध मे सिद्धान्त का मत है कि वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर का प्रारम्भ करने के समय अर्थात् पांचवें, छठे गुणस्थान में और आहारकलब्धि से आहारक शरीर की रचना के समय अर्थात् छठे गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग होता है।

इस मत की सूचना चौथे कर्मग्रन्थ की गाथा ४९ मे की गई है—

सासणभावे नाणं विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि॥

इसकी स्वोपज्ञ टीका में ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है—औदारिक शरीरवाला वैक्रियलब्धि धारक मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच या वादर पर्याप्त वायुकाय जिस समय वैक्रिय शरीर रचता है, उस समय वह औदारिक शरीर में रहता हुआ अपने प्रदेशो को फैलाकर और वैक्रिय शरीर-योग्य पुद्गलो को लेकर जव तक वैक्रिय शरीर पर्याप्ति को पूर्ण नही करता तव तक उसके औदारिक काययोग की वैक्रियशरीर के साथ मिश्रता है, परन्तु व्यवहार औदारिक को लेकर औदारिक-मिश्रता का करना चाहिए, क्योंकि उसी की प्रधानता है। इसी प्रकार आहारक शरीर करने के समय भी उसके साथ औदारिक काययोग की मिश्रता को जान लेना चाहिए।[1]

सिद्धान्त के उक्त कथन का आशय यह है कि वैक्रिय और आहारक का प्रारम्भ काल में औदारिक के साथ मिश्रण होने से औदारिकमिश्र कहा है। वैक्रियलब्धि, आहारकलब्धि सम्पन्न जव उक्त शरीर करता है तव औदारिक शरीर योग में वर्तमान होता है। जव तक वैक्रिय शरीर या आहारक शरीर में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न कर ले तव तक मिश्रता होती है। परन्तु औदारिक की मुख्यता होने से व्यपदेश औदारिकमिश्र का होता है। अर्थात् वैक्रिय और आहारक करते समय तो औदारिकमिश्र यह कहा जाता

---

१ प्रज्ञापना पद १६ पत्र, ३१९-१ (चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १८२ पर उद्धृत)

है और परित्याग काल में अनुक्रम से वैक्रियमिश्र और आहारक-मिश्र यह व्यपदेश होता है। लेकिन कर्मग्रन्थकार मानते है कि किसी भी शरीर द्वारा काययोग का व्यापार हो परन्तु औदारिक शरीर जन्मसिद्ध है और वैक्रिय व आहारक लब्धिजन्य है अत लब्धिजन्य शरीर की प्रधानता मानकर प्रारभ और परित्याग के समय वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र व्यवहार करना चाहिए, न कि औदारिकमिश्र।

कर्मग्रन्थकारो की उक्त दृष्टि होना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है। औदारिकमिश्र काययोग में चार गुणस्थान मानने वाले कर्मग्रन्थ के विद्वानो का तात्पर्य इतना ही जान पडता है कि कार्मण शरीर और औदारिक शरीर दोनो के सहयोग से होने वाले योग को औदारिकमिश्र काययोग कहना चाहिए जो पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवे इन चार गुणस्थानो में ही पाया जा सकता है। किन्तु सैद्धान्तिको का आशय यह है कि जिस प्रकार कार्मणशरीर को लेकर औदारिक मिश्रता मानी जाती है, उसी प्रकार लब्धिजन्य वैक्रिय और आहारक शरीर की मिश्रता मानकर औदारिकमिश्र काययोग मानना चाहिए।

सिद्धान्त का उक्त दृष्टिकोण भी ग्रहण करने योग्य है और उस दृष्टि से औदारिकमिश्र काययोग मे पांचवां, छठा यह दो गुणस्थान माने जा सकते है। किन्तु यहाँ बंधस्वामित्व कर्मग्रन्थो के अनुसार बतलाया जा रहा है अत: पांचवे, छठे गुणस्थान सम्वन्धी बंधस्वामित्व का विचार नही किया है।

औदारिकमिश्र काययोग के बधस्वामित्व का कथन करने के बाद अव कार्मण काययोग के बन्धस्वामित्व को बतलाते है।

कार्मण काययोग भवान्तर के लिए जाते हुए अन्तराल गति के समय और जन्म लेने के प्रथम समय में होता है। कार्मण काययोग वाले जीवों के—पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां—ये चार गुणस्थान होते है। इनमें से तेरहवॉ गुणस्थान केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पॉचवे समय में केवली भगवान को होता है और

शेष तीन गुणस्थान उक्त जीवों के अन्तराल गति में तथा जन्म के प्रथम समय में होते हैं।

इस कार्मण काययोग मार्गणा में सामान्य से तथा गुणस्थानों के समय औदारिकमिश्र काययोग के समान बंधस्वामित्व समझना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसमें तिर्यंचायु और मनुष्यायु का भी बन्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में जो बन्धयोग्य १२० प्रकृतियां बतलाई हैं, उनमें से औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु इन ६ प्रकृतियों के कम करने से ११४ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया है। किंतु कार्मण काययोग में उक्त छह प्रकृतियों के साथ तिर्यंचायु और मनुष्यायु को और कम करने से सामान्य से ११२ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में उक्त ११२ प्रकृतियो मे से औदारिकमिश्र काययोग की तरह तीर्थङ्कर नामकर्म आदि पांच प्रकृतियो के बिना १०७ तथा इन १०७ प्रकृतियों में से दूसरे गुणस्थान में सूक्ष्मत्रिक आदि १३ प्रकृतियो को कम करने से ९४ एवं इन ९४ प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि २४ प्रकृतियों को कम करने तथा तीर्थङ्कर नामकर्म आदि पाँच प्रकृतियो को जोडने से चौथे गुणस्थान में ७५ प्रकृतियों का बन्ध होता है और तेरहवे गुणस्थान मे सिर्फ एक सातावेदनीय कर्म प्रकृति का बन्ध होता है।

यद्यपि कार्मण काययोग में बंधस्वामित्व औदारिकमिश्र काययोग के समान कहा गया है और चौथे गुणस्थान मे औदारिकमिश्र काययोग में ७५ प्रकृतियों के बंध को लेकर शंका उठाकर ७५ प्रकृतियों के बंध का समर्थन किया गया है। लेकिन कार्मण काययोग में चतुर्थ गुणस्थान के समय उक्त शका करने का अवकाश नही है, क्योकि औदारिकमिश्र काययोग सिर्फ मनुष्यों और तिर्यंचों के ही होता है, किन्तु कार्मण काययोग तो अनाहारक अवस्था में तिर्यंचों के अतिरिक्त देव और नारकों को भी होता है।

आदि पाँच प्रकृतियो को बांधते है। इसी से कार्मण काययोग के चौथे गुणस्थान में उक्त पांच प्रकृतियो को भी ग्रहण किया गया है।

आहारक काययोगद्विक, अर्थात आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग—ये दोनो छठे गुणस्थान में पाये जाते है। अतः छठे गुणस्थान के समान इन दोनो योग मार्गणाओं में ६३ प्रकृतियो का बंध होता है।

आहारक काययोग में प्रमत्त और अप्रमत्त विरत ये दो गुणस्थान होते है। जब चौदह पूर्वधारी आहारक शरीर करता है, उस समय लब्धि का उपयोग करने से प्रमादयुक्त होता है, तब छठा गुणस्थान होता है। उस समय आहारक शरीर का प्रारम्भ करते समय वह औदारिक के साथ मिश्र होता है। अर्थात् आहारक मिश्र और आहारक इन दो योगो में छठा गुणस्थान होता है, किन्तु बाद मे विशुद्धि की शक्ति से सातवे गुणस्थान में आता है, तब आहारक योग ही होता है। अर्थात् आहारक योग मे छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान तथा आहारकमिश्र काययोग मे छठा गुणस्थान होता है। तब छठे गुणस्थान मे ६३ प्रकृतियों का बंध करता है। उक्त प्रकृतियो में शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्ति और असाता वेदनीय इन छह प्रकृतियों को कम करने पर सातवे में ५७ प्रकृतियो का और देवायु का बंध न करे तो ५६ प्रकृतियो का बंध करता है। पंचसंग्रह सप्ततिका की गाथा १४६ में बताया गया है कि आहारक योग और आहारकमिश्र काययोग वाले अनुक्रम से ५७ और ६३ प्रकृतियो का बंध करते है। यानी आहारक काययोग वाला छठे गुणस्थान में ६३ और सातवे गुणस्थान में ५७ प्रकृतियो का बंध करता है और आहारकमिश्र काययोग वाला छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियो का बंध करता है।

जैसा इस कर्मग्रन्थ में माना है, उसी प्रकार प्राचीन बंधस्वामित्व

में आहारक काययोगद्विक में छठ गुणस्थान के समान बंधस्वामित्व माना है; यथा—

'तेवट्ठाहारदुगे जहा पमत्तस्स'

—प्राचीन बंधस्वामित्व, गा० ३२

किन्तु नेमिचन्द्राचार्य अपने ग्रंथ गोम्मटसार कर्मकाण्ड में यद्यपि आहारक काययोग मे छठे गुणस्थान के समान ६३ प्रकृतियो का बंध मानते है, लेकिन आहारकमिश्र काययोग में देवायु का बंध नही मानते है। उनके मतानुसार ६२ प्रकृतियों का बंध होता है—

छट्ठगुणंवाहारे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ।

—गो० कर्मकांड गा० ११८

अर्थात् आहारक काययोग में छठे गुणस्थान की तरह बंधस्वामित्व है, परन्तु आहारकमिश्र काययोग में देवायु का बंध नही होता है।

सारांश यह है कि कर्मग्रन्थ के अनुसार औदारिकमिश्र काययोग में चौथे गुणस्थान के समय ७५ प्रकृतियो का बंध होता है, जबकि सिद्धान्त के अनुसार ७० प्रकृतियो का बंध माना जाता है तथा सिद्धान्त में वैक्रियलब्धि और आहारकलब्धि का प्रयोग करते समय भी औदारिकमिश्र काययोग माना है, लेकिन यहाँ उसकी विवक्षा नही की गई है। क्योकि कर्मग्रन्थकार वैसा मानते नही है, इसलिए पाचवें और छठे गुणस्थान का बंध नही कहा है।

सिद्धान्त में जो ७० प्रकृतियों का बंध कहा गया है, उसमें गाथा में आये 'अणचउवीसाइ' पद में आदि शब्द से अन्य पाँच प्रकृतियों का ग्रहण किया जाय तो कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त के मत में कोई शंका नही रहती है। इसप्रकार दूसरे गुणस्थान की बंधयोग्य ६४ में से अनन्तानुबंधी चतुष्क आदि २४ और अन्य ५ प्रकृतियों को कम करने से और तीर्थंकर नामकर्मपंचक प्रकृतियो के मिलाने से ७० का बंध होना युक्तियुक्त हो सकता है।

कार्मण काययोग में भी औदारिक मिश्रयोग के समान वंध समझना चाहिए, किन्तु तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन दो प्रकृतियो को कम करने से सामान्य से ११२ प्रकृतियो का वंध मानना चाहिए और गुणस्थानो की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०७, दूसरे में ६४, चौथे मे ७५ और तेरहवे मे १ सातावेदनीय का वन्ध होता है।

आहारक काययोगद्विक मे गुणस्थान के समान ही वन्ध समझना चाहिये। अर्थात् छठे गुणस्थान मे जैसे ६३ प्रकृतियो का वन्ध होता है, वैसे ही इस योग मे समझना चाहिए। मतान्तर से ६३, ५७ प्रकृतियो का भी वन्ध कहा गया है। किन्ही आचार्यो ने ६२ प्रकृतियो का वन्ध आहारकमिश्र काययोग मे माना है।

इस प्रकार औदारिक, कार्मण और आहारक काययोग मे वंधस्वामित्व वतलाने के वाद अब आगे की गाथा में वैक्रिय काययोगद्विक, वेद तथा कषाय मार्गणा के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय भेदो मे वन्धस्वामित्व वतलाते है—

सुरओहो वेउव्वे तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से।
वेयतिगाइम बिय तिय कसाय नव दु चउ पच गुणा ॥१६॥

गाथार्थ—वैक्रिय काययोग मे देवगति के समान तथा वैक्रियमिश्र काययोग में तिर्यचायु और मनुष्यायु के सिवाय अन्य सब प्रकृतियो का वन्ध वैक्रिय काययोग के समान तथा वेद और कषाय मार्गणा मे क्रमशः वेद मार्गणा में आदि के नौ, अनन्तानुवन्धी कषाय में आदि के दो, द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय में आदि के चार, तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय मे आदि के पाँच गुणस्थान की तरह वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

विशेषार्थ—गाथा में वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग तथा वेद और कषाय मार्गणा के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के वन्धस्वामित्व को वतलाया है।

वैक्रिय काययोग के अधिकारी देव तथा नारक होते है। क्योंकि देव और नारको के उपपातजन्म होता है।[1] उपपातजन्म वालो को वैक्रिय शरीर होता है।[2] इससे इसमे गुणस्थान देवगति के समान ही माने गए है और इसका वन्धस्वामित्व भी देवगति के समान हो, अर्थात् सामान्य से १०४, पहले गुणस्थान मे १०३, दूसरे में ९६, तीसरे मे ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियो का है।

वैक्रियमिश्र काययोग के स्वामी भी वैक्रिय काययोग की तरह देव और नारक होते है। अतः इस योग मे भी देवगति के समान वन्ध होना चाहिए था। लेकिन इतनी विशेषता समझना चाहिए कि इस योग मे आयु का बन्ध असंभव है। क्योकि यह योग अपर्याप्त अवस्था मे ही देवो तथा नारको के होता है। देव तथा नारक पर्याप्त अवस्था में, अर्थात् छह महीने प्रमाण आयु शेष रहने पर ही परभव सम्वन्धी आयु का वन्ध करते है। इसलिये वैक्रियमिश्र काययोग मे तिर्यचायु और मनुष्यायु के सिवाय वाकी की अन्य सब प्रकृतियो का बंध वैक्रिय काययोग (देवगति के समान) समझना चाहिए।

वैक्रिय काययोग की अपेक्षा वैक्रियमिश्र काययोग मे एक और विशेषता समझनी चाहिए कि वैक्रिय काययोग मे पहले के चार गुणस्थान होते है, जवकि वैक्रियमिश्र काययोग मे पहला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान ही होते है। क्योकि यह योग अपर्याप्त अवस्था में होता है। इससे इसमे अधिक गुणस्थान होना

---

१. नारकदेवानामुपपात। —तत्वार्थ सूत्र २।३५

उत्पत्ति स्थान मे स्थित वैक्रिय पुद्गलो को पहले-पहले शरीर रूप मे परिणत करना उपपात जन्म है

२ वैक्रियमौपपातिकम्। —तत्त्वार्थ सूत्र २।

असंभव है।¹ प्राचीन बन्धस्वामित्व में भी इसीप्रकार माना है—

मिच्छे सासाणे वा अविरयसम्मम्मि अहव गहियम्मि।
जंति जिया परलोए सेसेक्कारसगुणे मोत्तुं॥

अर्थात् जीव मरकर परलोक में जाते है, तब वे पहले, दूसरे या चौथे गुणस्थान को ग्रहण किये हुए होते है, परन्तु इन तीनो के सिवा शेष ग्यारह गुणस्थानो को ग्रहण कर परलोक के लिए कोई जीव गमन नही करता। अतएव इसमें सामान्य रूप से १०२, पहले गुणस्थान में १०१, दूसरे में ९६ और चोथे गुणस्थान मे ७२ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

वैक्रिय काययोग लब्धि से भी पैदा होता है।² जैसा कि पाँचवे गुणस्थान में वर्तमान अम्बड़ परिव्राजक³ आदि ने तथा छठे गुणस्थान में वर्तमान विष्णुकुमार आदि मुनि ने वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रिय शरीर किया था। यद्यपि इससे वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग का पाँचवे और छठे गुणस्थान से होना संभव है, तथा वैक्रिय काययोग वाले जीवों के पहले से लेकर चौथे तक चार गुणस्थान तथा वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान बतलाये गये है, उसका कारण यह जान पड़ता है कि यहाँ देव और नारको के स्वाभाविक भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा है। इसलिए उनके पहले के चार गुणस्थान माने गये है। लब्धि प्रत्यय वैक्रिय काययोग की विवक्षा से मनुष्य, तिर्यंच की अपेक्षा अधिक गुणस्थानों मे उसकी विवक्षा नही है। अर्थात् केवल भव प्रयत्य वैक्रिय शरीर को लेकर ही वैक्रिय काययोग तथा वैक्रियमिश्र काययोग मे क्रम से उक्त चार और तीन गुणस्थान बतलाये है।

---

१ वेगुव्व पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सतु।
सुरणिरयचउट्ठाणे मिस्से णहि मिस्स जोगो हु॥
—गो० जीवकांड ६

२ लब्धिप्रत्ययं च। —तत्त्वार्थसूत्र २

३ अम्बड परिव्राजक का वर्णन औपपातिक सूत्र मे देखिये।

योगमार्गणा के बंधस्वामित्व का कथन करने के वाद अव वेद और कषायमार्गणा के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय भेदो का वन्धस्वामित्व वतलाते है।

वेद के तीन भेद है—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। इन तीनो प्रकार के वेदो का उदय नौवे गुणस्थान तक ही होता है।[1] अर्थात् वेद का उदय नौवें गुणस्थान पर्यन्त ही होता है, इसलिए वेद का वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार की तरह नौ गुणस्थानो जैसा मानना। अर्थात् जैसे वन्धाधिकार में सामान्य से १२०, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे मे १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवे में ६७, छठे में ६३, सातवे में ५९-५८, आठवे मे ५८, ५६ तथा २६ और नौवे मे २२ प्रकृतियो का वन्ध वतलाया है, उसीप्रकार वेदमार्गणा वाले जीवो का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय पहले, दूसरे—दो गुणस्थानो में ही होता है। इससे इस कषाय में उक्त दो ही गुणस्थान माने जाते है। उक्त दो गुणस्थानो के समय न तो सम्यक्त्व होता है और न चारित्र। अतः तीर्थङ्कर नामकर्म (जिसका वन्ध सम्यक्त्व से ही होता है) और आहारकद्विक (जिनका बन्ध चारित्र से ही होता है), ये तीन प्रकृतियाँ अनन्तानुबन्धी कषाय वालों के सामान्य बन्ध में वर्जित है। अतएव अनन्तानुवन्धी कषाय वाले सामान्य से तथा पहले गुणस्थान में ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियो का वन्ध करते है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायो का उदय पहले चार गुणस्थान पर्यंत होता है। अतः इनमें पहले चार गुणस्थान होते है। इन कषायो के समय सम्यक्त्व का संभव होने से तीर्थकर नाम का वंध हो सकता है। लेकिन चारित्र का अभाव होने से आहारकद्विक का वन्ध नही होता है। अतएव इन कषायो में सामान्य से ११८ और

---

१ अणियट्टिस्स य पढमो भागोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठ।

—गो० जीवकांड ६८४

पहले गुणस्थान मे ११७, दूसरे में १०१, तीसरे मे ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण कपायो का उदय पाँचवे गुणस्थान पर्यन्त होता है। अत: इनमें पहले से लेकर पाँचवे गुणस्थान पर्यन्त पाँच गुणस्थान माने जाते है। यद्यपि इन कपायो के समय सर्वविरति चारित्र न होने से आहारकद्विक का वन्ध नही हो सकता है, तथापि सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध हो सकता है। इसलिए सामान्य रूप से ११८ और पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे मे ७७ और पांचवे में ६७ प्रकृतियो का वन्ध जानना चाहिए।

कषायमार्गणा में यदि अनन्तानुवन्धी आदि संज्वलन पर्यन्त की अपेक्षा से प्रत्येक का अलग-अलग वन्धस्वामित्व का कथन न कर क्रोध, मान, माया और लोभ–इन सामान्य भेदो में गुणस्थान का कथन किया जाये तो क्रोध, मान, माया—ये तीन कषाय नौवे गुणस्थान के क्रमश: दूसरे, तीसरे और चौथे भाग पर्यन्त तथा लोभ कषाय दसवे गुणस्थान तक रहता है। इस अपेक्षा से यदि गुणस्थान माने जाये तो कषायमार्गणा में पहले से लेकर दसवे गुणस्थान पर्यन्त दस गुणस्थान होते है और उनका वन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के अनुसार समझना चाहिये। लेकिन ग्रन्थकार ने यहाँ कषाय मार्गणा में अनन्तानुवन्धी आदि की अपेक्षा से उनका गुणस्थानो में बन्धस्वामित्व का कथन किया है।

साराश यह है कि वैक्रिय काययोग मे बन्धस्वामित्व देवगति के समान, अर्थात् सामान्य से १०४ एवं गुणस्थानो में पहले में १०३, दूसरे मे ९६, तीसरे में ७० और चौथे मे ७२ प्रकृतियो का है और वैक्रियमिश्र काययोग मे तिर्यचायु और मनुष्यायु इन दो प्रकृतियो का वन्ध नही होने से इनके विना शेष प्रकृतियों का बन्ध वैक्रिय काययोग के समान समझना चाहिए। जिसका अर्थ यह है कि वैक्रिय मिश्रयोग में सामान्य से वन्धयोग्य १०२ प्रकृतियां है तथा यह योग

अपर्याप्त अवस्था मे होने से तीसरा गुणस्थान नही होता है। अत. पहले गुणस्थान मे १०१, दूसरे मे ६६ और चौथे मे ७२ प्रकृतियो का बन्ध होता है।

वेद का उदय नौवें गुणस्थान तक होता है। अतः बंधाधिकार मे कहे गये अनुसार ही सामान्य से और नौवे गुणस्थान तक बताये गये प्रकृतियो के बंध के अनुसार समझना चाहिए।

कषायमार्गणा में अनन्तानुबंधी कपाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक होता है, अतः गुणस्थानो की अपेक्षा वंध तो बधाधिकार में बताये गये बंध के समान ही होता है, लेकिन सामान्य से १२० की बजाय ११७ का बंध होता है, क्योंकि इस कषाय वाले को सम्यक्त्व और चारित्र नही होने से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक का बंध नही होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय चौथे गुणस्थान तक होता है और इस कषाय के समय सम्यक्त्व सभव होने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो सकता है। अतः सामान्य से बधयोग्य ११८ प्रकृतियाँ है और गुणस्थानो मे बंधाधिकार के समान ११७, १०१, ७४ और ७७ प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय पाँचवे गुणस्थान पर्यन्त होता है। अतः इसमे पहले से लेकर पाँचवे तक पांच गुणस्थान होते है। इस कषाय के रहने पर सम्यक्त्व हो सकता है, लेकिन सर्वविरति चारित्र न होने से आहारकद्विक का बध नही होने से सामान्य रूप से ११८ प्रकृतियो का वन्ध होता है और गुणस्थानो में क्रमश ११७, १०१, ७४, ७७ और ६७ प्रकृतियो का वन्धस्वामित्व जानना।

अब आगे की गाथा मे कषायमार्गणा की शेष रही संज्वलन कपाय तथा संयम, ज्ञान और दर्शन मार्गणा के वन्धस्वामित्व का कथन करते है—

संजलणतिगे नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खुचक्खुसु पढमा अहखाइ चरमचऊ ॥१७॥

गाथार्थ—संज्वलनत्रिक (संज्वलन क्रोध, मान, माया) में नौ गुणस्थान और चौथे संज्वलन लोभ मे दस गुणस्थान होते है तथा अविरति में चार, अज्ञानत्रिक (मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंग ज्ञान) में दो या तीन और अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन में आदि के बारह और यथाख्यात चारित्र में अन्त के चार गुणस्थान होते हैं। अतः उक्त मार्गणाओ में बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार मे बताये गये अनुसार सामान्य से और गुणस्थानो में समझना चाहिए।

विशेषार्थ—कपायमार्गणा के अन्तिम भेद संज्वलन कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार भेदों में से क्रोध, मान और माया मे नौ और लोभ मे दस गुणस्थान होते है। अतः इन चारो कषायो का बंधस्वामित्व सामान्य रूप से और विशेष रूप से गुणस्थानो के समान ही है। अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान, माया का उदय नौवें गुणस्थान तक होता है, अतः उनका बन्धस्वामित्व जैसा बन्धाधिकार में गुणस्थानों की अपेक्षा बतलाया गया है, उसीप्रकार समझना चाहिए। यानी सामान्य से १२० और गुणस्थानो में पहले से लेकर नौवे गुणस्थान तक क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९, ५८ और २२ प्रकृतियों का समझना चाहिए।

सज्वलन लोभ मे एक से लेकर दस गुणस्थान होते है, अतः इसमें नौवे गुणस्थान तक तो पूर्वोक्त संज्वलनत्रिक के अनुसार बन्धस्वामित्व समझना चाहिए और दसवे गुणस्थान में १७ प्रकृतियो का बन्ध होता है।

संयममार्गणा में सामायिक आदि संयम के भेदो के साथ सयम-प्रतिपक्षी असंयम-अविरति को भी माना जाता है। अतः सयम-मार्गणा के भेदों के बन्धस्वामित्व को बतलाने के पहले असंयम-[illegible]रति मे बन्धस्वामित्व का कथन करते है। अविरति का मतलब

है कि सम्यक्त्व भी हो जाये किन्तु चारित्र का पालन नही हो सके। अतः इसमें आदि के चार गुणस्थान होते है और चौथे गुणस्थान मे सम्यक्त्व होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध संभव है, परन्तु आहारकद्विक का वन्ध सयमसापेक्ष होने से वन्ध नही होता है। इसलिए अविरति में सामान्य रूप से आहारकद्विक के सिवाय ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे गुणस्थान मे ७७ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

ज्ञानमार्गणा में ज्ञान और अज्ञान—दोनो को माना जाता है। इनमें मति, श्रुत. अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान ये ज्ञान के पाँच भेद है। इनमें मति, श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत भी होते है।[1] अर्थात् अज्ञान के मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अवधि-अज्ञान—ये तीन भेद होते है। ज्ञानमार्गणा के इन आठ भेदों में से यहाँ अज्ञानत्रिक का वन्धस्वामित्व वतलाते है।

अज्ञानत्रिक में आदि के दो या तीन गुणस्थान होते है। इनके सामान्य वन्ध में से तीर्थकर नामकर्म और आहारकद्विक ये तीन प्रकृतियाँ कम कर देना चाहिए। क्योकि अज्ञान का कारण मिथ्यात्व है और इन अज्ञानत्रिक में मिथ्यात्व का सद्भाव रहता है, जिससे सामान्य से तथा पहले गुणस्थान मे ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे मे ७४ प्रकृतियो का वन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान माने जाने का आशय यह है कि तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव की दृष्टि सर्वथा शुद्ध या अशुद्ध नही होती है. किन्तु कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध तथा किसी अंश मे अशुद्धमिश्र होती है। इस मिश्र दृष्टि के अनुसार उन जीवो का ज्ञान भी मिश्र रूप—किसी अश में ज्ञान रूप तथा किसी अंश मे अज्ञान रूप माना जाता है। जब उसमें शुद्धता अधिक होती है, तव दृष्टि की शुद्धि की अधिकता के कारण और अशुद्धि की कमी के कारण

---

१ मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च। —तत्त्वार्थसूत्र १।३२

मिश्र ज्ञान में ज्ञानत्व की मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की अशुद्धि की कमी के कारण अज्ञान की मात्रा कम होती है, तव इस प्रकार के मिश्र ज्ञान से युक्त जीवो की गिनती ज्ञानी जीवो में भी की जा सकती है, लेकिन वह है अज्ञान ही। इस दृष्टि से उस समय पहले और दूसरे दो गुणस्थानों में जीव को ही अज्ञानी समझना चाहिए।

परन्तु जव दृष्टि मे अशुद्धि की अधिकता के कारण मिश्र ज्ञान में अज्ञान की मात्रा अधिक होती है और शुद्धि की कमी के कारण ज्ञान की मात्रा कम तव उस मिश्र ज्ञान को अज्ञान मानकर मिश्र ज्ञानी जीवो की गिनती अज्ञानी जीवो में की जाती है। अतएव उस समय पहले, दूसरे और तीसरे—इन तीन गुणस्थानो सम्वन्धी जीव को अज्ञानी समझना चाहिए।

उक्त दोनो स्थितियो का कारण यह है कि जो जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आता है, तव मिश्रदृष्टि मे मिथ्यात्वांश अधिक होने से अशुद्धि विशेप होती है और जव सम्यक्त्व छोड़कर तीसरे गुणस्थान मे आता है, तव मिश्रदृष्टि में सम्यक्त्वाश अधिक होने के शुद्धि विशेष रहती है। इसीलिए अज्ञानत्रिक मे दो या तीन गुणस्थान माने जाते है।

यहाँ अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान मानने विषयक मतान्तर का दिग्दर्शन किया गया है। कर्मग्रन्थकार सास्वादन को अज्ञान ही मानने है। पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होने से अज्ञान ही है और वाकी रहा मिश्र, वहाँ मोहनीय कर्म का उदय होता है। वहाँ यथास्थित तत्व का वोध नही होने से कितने ही आचार्य अज्ञान रूप ही मानते हैं। क्योंकि पंचसग्रह में कहा है मिश्र मे ज्ञान से मिश्रित अज्ञान ही होते है, शुद्ध ज्ञान नही होते है। यहाँ शुद्ध सम्यक्त्व की अपेक्षा से ही ज्ञान माना गया है। यदि अशुद्ध सम्यक्त्व वाले को ज्ञान माने तो सास्वादन को भी ज्ञान मानना पड़ेगा। किन्तु कर्मग्रन्थकारों को यह इष्ट नहीं है, क्योकि [illegible] में सास्वादन को अज्ञान होता है, ऐसा कहा है। इस अपेक्षा

से तीन गुणस्थान होते है। जवकि कितनेक आचार्य मिश्र मोहनीय पुद्गलों मे मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल अधिक हो तो अज्ञान अधिक और ज्ञान अल्प तथा सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्गल अधिक हों तो ज्ञान अधिक और अज्ञान अल्प ऐसा मानते है और दोनो रीति से ज्ञान का लेश-अंश मिश्र गुणस्थान मे मानते है। इसलिए उस अपेक्षा से अज्ञानत्रिक में प्रथम दो गुणस्थान ही होते है। (यह कथन जिन-वल्लभीय षडशीतिका की टीका में किया गया है।) इस प्रकार से दो अथवा तीन गुणस्थान कर्मग्रन्थकारों के मतानुसार होते है।

ज्ञानमार्गणा के अज्ञानत्रिक का वन्धस्वामित्व यहाँ वतलाया गया है। शेष मतिज्ञानादि पाँच भेदो का वन्धस्वामित्व आगे वत-लाया जायगा। अव दर्शन मार्गणा के भेद चक्षुदर्शन और अचक्षु-दर्शन का वन्धस्वामित्व वतलाते है।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन इन दो दर्शनों में पहले से लेकर वारह गुणस्थान होते है। क्योंकि ये दोनों क्षायोपशमिक भाव है और क्षायोपशमिक भाव वारह गुणस्थान पर्यन्त होते है। अतः इनका वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से तथा प्रत्येक गुणस्थान में बन्धा-धिकार के समान है। अर्थात् वन्धाधिकार में जैसे सामान्य से १२० और गुणस्थानो में पहले में ११७ आदि गुणस्थान के क्रम से लेकर वारहवे गुणस्थान पर्यन्त वन्ध वतलाया गया है, इसीप्रकार चक्षु-दर्शन और अचक्षुदर्शन मार्गणा में बन्ध समझना चाहिए।

यथाख्यात चारित्र अंतिम चार गुणस्थानवर्ती जीवों में होता है। अतः ग्यारहवे से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक—ये चार गुण-स्थान होते है। चौदहवे गुणस्थान मे तो योग का अभाव होने से वन्ध होता ही नही है। किन्तु ग्यारहवे आदि तीन गुणस्थानों में वन्ध के कारण योग का सद्भाव होता है। अतः योग के निमित्त से वँधने वाली सिर्फ एक प्रकृति—सातावेदनीय का वन्ध होता है। इसलिए इस चारित्र में सामान्य और विशेष रूप से एक प्रकृति । वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

सारांश यह है कि कषायमार्गणा के चौथे भेद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ में से क्रोध, मान, माया नौवे गुणस्थान तक रहती है। अत इन तीनों के पहले से लेकर नौ गुणस्थान होते है तथा लोभ दसवे गुणस्थान पर्यन्त रहता है। अतः इनका वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार में वताये गये सामान्य व गुणस्थानो के अनुसार समझना चाहिए।

संयममार्गणा के भेद अविरति में आदि के चार गुणस्थान होते है। चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध संभव है, परन्तु आहारकद्विक का वन्ध संयमसापेक्ष होने से नही होता है। अतः अविरति मे सामान्य से आहारकद्विक के सिवाय ११८ प्रकृतियो का तथा गुणस्थानों मे पहले में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान होते है। इसलिए इसके सामान्य बन्ध में से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों को कम कर लेना चाहिए। अतः सामान्य से और पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे में ७४ प्रकृतियो का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन इनमें पहले बारह गुणस्थान होते हैं और इनका बन्धस्वामित्व सामान्य से एवं गुणस्थान की अपेक्षा गुणस्थानो के समान समझना चाहिए।

यथाख्यात चारित्र मे ग्यारह से चौदह अंतिम चार गुणस्थान होते है और चौदहवे गुणस्थान में योग का अभाव होने से वन्ध नही होता और शेष तीन—ग्यारह, बारह और तेरह इन तीन गुणस्थानो में सिर्फ एक सातावेदनीय का वन्ध होता है।

इस प्रकार कषायमार्गणा के सज्वलनचतुष्क और संयम-
'णा के अविरति और यथाख्यात चारित्र, ज्ञानमार्गणा के अज्ञान-

त्रिक, दर्शनमार्गणा के चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन में बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद आगे की गाथा में संयममार्गणा और ज्ञान-मार्गणा के मतिज्ञान आदि भेदों में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलिदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥१८॥

गाथार्थ—मनःपर्याय ज्ञान में यत—प्रमत्तसंयत आदि अर्थात् छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त सात तथा सामायिक और छेदोपस्थानीय चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान एवं परिहारविशुद्धि चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान होते हैं। केवलद्विक में अंतिम दो गुणस्थान तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक में अविरति सम्यग्दृष्टि से लेकर नौ गुणस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में ज्ञानमार्गणा के भेदों—मनःपर्यायज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, केवलज्ञान, संयममार्गणा के सामायिक, छेदोपस्थानीय और परिहारविशुद्धि चारित्र, दर्शनमार्गणा के अवधिदर्शन और केवलदर्शन में बन्धस्वामित्व का कथन किया गया है। इनका विशद अर्थ गाथा में बताये गये क्रम के अनुसार किया जाता है।

मनःपर्यायज्ञान में छठे गुणस्थान—प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीण-कषाय पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं। यद्यपि मनःपर्यायज्ञान का आविर्भाव सातवें गुणस्थान में होता है, परन्तु इसकी प्राप्ति के बाद मुनि प्रमादवश छठे गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है तथा इस ज्ञान के धारक मिथ्यात्व आदि पाँच गुणस्थानों में वर्तमान नहीं रहते हैं तथा यह क्षायोपशमिक होने से अंतिम गुणस्थान—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में नहीं रहता है, क्योंकि क्षायिक अव[illegible] क्षायोपशमिक स्थिति रहना असंभव है। इसलिए मनःपर्या[illegible] छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक माने जाते हैं। इसमें

द्विक का भी वन्ध संभव है। इसलिए इस ज्ञान में सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियो का तथा छठे से लेकर वारहवे गुणस्थान पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धाधिकार के समान ही प्रकृतियो का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए। अर्थात् मनःपर्याय ज्ञानमार्गणा मे सामान्य से ६५ प्रकृतियो का और छठे से लेकर वारहवे गुणस्थान तक छठे मे ६३, सातवे मे ५६।५८,आठवे मे ५८।५६।२६, नौवे मे २२।२१।२०।१६। १८, दसवे मे १७, ग्यारहवे मे १, वारहवे में १ प्रकृति का वन्ध समझना चाहिए।

सामायिक और छेदोपस्थानीय ये दो संयम छठे, सातवे, आठवे और नौवे इन चार गुणस्थानो मे पाये जाते है। इन संयमो के समय आहारकद्विक का वन्ध होना भी सभव है। अतः सामान्य से ६५ प्रकृतियाँ वन्धयोग्य है और गुणस्थानो की अपेक्षा छठे आदि प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान ही वन्ध समझना चाहिए। अर्थात् छठे मे ६३, सातवे में ५६।५८, आठवे से ५८।५६।२६, नौवे मे २२।२१।२०।१६।१८ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

परिहारविशुद्धि संयमी सातवे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानो को नही पा सकता है। अतः यह संयम सिर्फ छठे और सातवे गुणस्थान मे ही होता है। इस संयम के समय यद्यपि आहारकद्विक का उदय नही होता। क्योकि परिहारविशुद्धि संयमी को दस पूर्व का भी पूर्ण ज्ञान नही होता और आहारकद्विक का उदय चतुर्दशपूर्वधर के संभव है। किन्तु आहारकद्विक का बन्ध संभव है। इसलिए वन्ध-स्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का और गुणस्थानो की अपेक्षा वन्धाधिकार के समान, अर्थात् छठे गुणस्थान में ६३ और सातवे में ५६ या ५८ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

केवलद्विक अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन मे तेरहवा और चौदहवां ये दो गुणस्थान होते है। लेकिन उक्त दो गुणस्थानो मे से चौदहवे गुणस्थान मे वन्ध के कारणों का अभाव हो जाने से सी भी कर्मप्रकृति का वन्ध नहीं होता है, लेकिन तेरहवे गुणस्थान

मे होता है, और वह वन्ध सिर्फ सातावेदनीय का होता है। इसलिए इन दोनो में सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा वन्धस्वामित्व एक ही प्रकृति का है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान और अवधि-दर्शन इन चार मार्गणाओ में पहले के तीन गुणस्थान तथा अंतिम दो गुणस्थान नही होते है। अर्थात् चौथे अविरत से लेकर वारहवे क्षीणकषाय गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते है। आदि के तीन गुण-स्थान न होने का कारण यह है कि ये चारों सम्यक्त्व के होने पर यथार्थ माने जाते है और आदि के तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व नही होता है और अन्तिम दो गुणस्थान न होने का कारण यह है कि उनमें क्षायिक ज्ञान होता है, क्षायोपशमिक नही। इसलिए इन चारो में चौथे से लेकर वारहवे गुणस्थान तक कुल नौ गुणस्थान माने जाते है। इन चारों मार्गणाओं में भी आहारकद्विक का बंध संभव होने से सामान्य से ७९ प्रकृतियो का और गुणस्थानो की अपेक्षा चौथे से लेकर वारहवे गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए। अर्थात् चौथे गुणस्थान की वन्धयोग्य ७७ प्रकृतियो मे आहारक शरीर और आहारक अंगोपाग—इन दो प्रकृतियो को और जोड़ने से सामान्य की अपेक्षा ७९ प्रकृतियो का वन्ध होता है और गुणस्थानों की अपेक्षा चौथे में ७७, पॉचवे में ६७, छठे में ६३, सातवे मे ५९।५८, आठवे मे ५८।५६।२६, नौवे में २२।२१।२०।१९।१८, दसवे मे १७, ग्यारहवे में १, वारहवे मे १ प्रकृति का वन्ध समझना चाहिए।

साराश यह है कि मनःपर्याय ज्ञानमार्गणा में छठे से लेकर वारहवे गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थान होते है और इसमें आहारक-द्विक का वन्ध संभव होने से सामान्यतया ६५ प्रकृतियो का और गुणस्थानो की अपेक्षा वन्धाधिकार के समान छठे से लेकर वारहवे गुणस्थान तक प्रत्येक मे वन्ध समझना चाहिए।

सामायिक और छेदोपस्थानीय ये दो संयम छठे से लेकर नौवे तक चार गुणस्थान पर्यन्त होते है। तथा इनमें आहारकद्विक का भी वन्ध संभव है, अत इन दोनों मे वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियो का और छठे से लेकर नौवे तक प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धाधिकार के समान ही है।

परिहारविशुद्धि संयम वाले के छठा और सातवां ये दो गुणस्थान होते है। यद्यपि इस संयम के समय आहारकद्विक का उदय नहीं होता है, किन्तु वन्ध संभव है। अतः इसका वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियो का और विशेषरूप से वन्धाधिकार के समान छठे गुणस्थान मे ६३ और सातवे में ५६ या ५८ प्रकृतियो का होता है।

केवलद्विक – केवलज्ञान और केवलदर्शन—में अन्तिम दो गुणस्थान—तेरहवे और चौदहवे होते है। लेकिन उक्त दो गुणस्थानों से चौदहवे गुणस्थान में वन्ध के कारणो का अभाव होने से वन्ध नही होता है और तेरहवे गुणस्थान में सिर्फ सातावेदनीय कर्म का बंध होता है। इसलिए इसका सामान्य और विशेष वन्ध सातावेदनीय प्रकृति का ही है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान और अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओ में पहले तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व नही होने से तथा अन्तिम दो गुणस्थान क्षायिकभाव वाले होने से और इन चारों के क्षायोपशमिक भाव वाले होने से चौथे से लेकर वारहवे गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थान होते है। इन चार मार्गणाओ मे आहारकद्विक का वन्ध सम्भव होने से सामान्य से ७६ प्रकृतियो का और गुणस्थानो की अपेक्षा चौथे से लेकर वारहवे तक प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

इस प्रकार से ज्ञानमार्गणा के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान तथा दर्शनमार्गणा के अवधिदर्शन और केवलदर्शन तथा मम '.। के सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि भेद

मे सामान्य और गुणस्थानो की अपेक्षा वन्धस्वामित्व का कथन किया जा चुका है । अव आगे की गाथा में सम्यक्त्व मार्गणा तथा संयम मार्गणा के शेष भेदो और आहारक मार्गणा मे वन्धस्वामित्व बतलाते है—

अड उवसमि चउ वेयगि खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस आहारगि नियनियगुणोहो ॥१६॥

गाथार्थ—उपशम सम्यक्त्व में आठ, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चार, क्षायिक सम्यक्त्व में ग्यारह, मिथ्यात्वत्रिक और देशचारित्र, सूक्ष्मसंपराय संयम में अपने-अपने नाम वाले एक-एक गुणस्थान होते है तथा आहारक मार्गणा मे तेरह गुणस्थान होते है और सामान्य से अपने-अपने गुणस्थान के समान वन्ध समझना चाहिए ।

विशेषार्थ— इस गाथा में सम्यक्त्व मार्गणा के उपशम, वेदक (क्षायोपशमिक), क्षायिक, मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र तथा संयम मार्गणा के देशविरत, सूक्ष्मसंपराय एवं आहारक मार्गणा का वन्धस्वामित्व वतलाया गया है ।

उपशमश्रेणि को प्राप्त हुए अथवा अनन्तानुवन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक को उपशमित करने वाले जीवो को उपशम सम्यक्त्व होता है । यह उपशम सम्यक्त्व अविरत सम्यक्त्व के सिवाय देशविरति, प्रमत्तसंयत—विरति या अप्रमत्तसंयत-विरति गुणस्थानो मे तथा इसी प्रकार आठवे से लेकर ग्यारहवे तक चार गुणस्थानों मे वर्तमान उपशम श्रेणि वाले जीवो को रहता है । इसी-कारण इस सम्यक्त्व मे चौथे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक कुल आठ गुणस्थान कहे गये है ।

इस सम्यक्त्व के समय आयु का वन्ध नही होता है । इससे चौथे गुणस्थान में देव और मनुष्यायु इन दोनों का वन्ध नही होता है और पाँचवे आदि गुणस्थान में देवायु का वन्ध नही होता है ।

अतएव इस सम्यक्त्व में सामान्य रूप से ७५ प्रकृतियो का तथा चौथे गुणस्थान मे ७५, पाँचवें में ६६, छठे में ६२, सातवें मे ५८, आठवें मे ५८।५६।२६, नौवे मे २२।२१।२०।१९।१८, दसवें मे १७ और ग्यारहवें गुणस्थान मे १ प्रकृति का वन्धस्वामित्व वताया है।

वेदकसम्यक्त्व का दूसरा नाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी उदय प्राप्त मिथ्यात्व का क्षय और अनुदय प्राप्त का उपशम करता है। इसीलिए इसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है। यह सम्यक्त्व चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानो मे होता है। इसमे आहारकद्विक का वन्ध भी सभव है, अत. इसका वन्ध-स्वामित्व सामान्य से ७९ प्रकृतियो का और विशेष रूप मे गुण-स्थानों की अपेक्षा चौथे गुणस्थान मे ७७, पाँचवे में ६७, छठे मे ६३ और सातवे में ५९ या ५८ प्रकृतियो का है। उसके वाद श्रेणि का प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए उपशम श्रेणि में उपशम सम्यक्त्व और क्षपक श्रेणि मे क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे यह विशेषता है कि क्षायोशपमिक सम्यक्त्वी मिथ्यात्व मोहनीय के प्रदेशोदय का अनुभव करता है, और उपशम सम्यक्त्वी विपाकोदय तथा प्रदेशोदय का अनुभव नही करता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल होते है, इसीलिए उसे वेदक कहा जाता है। साराश यह है कि औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के दलिको का विपाक और प्रदेश से भी वेदन नही होता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेश की अपेक्षा वेदन होता है।

संसार के कारणभूत तीनो प्रकार के दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व मे चौथे से लेकर चौदहवे तक ग्यारह गुणस्थान होते है। इसमे आहारकद्विक का वन्ध हो सकता है। इसलिये सामान्य रूप से इसका वन्धस्वामित्व ७९ प्रकृतियो का और गुणस्थानो की अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धाधिकार के समान है। अर्थात् अविरति मे ७७, देशविरति मे

६७, प्रमत्तविरति में ६३, अप्रमत्तविरति में ५६ या ५८, अपूर्वकरण मे ५८।५६।२६, अनिवृत्तिकरण मे २२।२१।२०।१६।१८, सूक्ष्मसंपराय मे १७ तथा उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगि गुणस्थान में १-१ प्रकृति का वन्ध समझना चाहिये और अयोगि गुणस्थान अवन्धक होता है।

मिथ्यात्वत्रिक यानी मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्रदृष्टि, ये तीनो सम्यक्त्व मार्गणा के अवान्तर भेद है। इनमें अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान होता है। अर्थात् मिथ्यात्व मे पहला मिथ्यात्व गुणस्थान, सास्वादन मे दूसरा सास्वादन गुणस्थान और मिश्र दृष्टि में तीसरा मिश्रदृष्टि गुणस्थान होता है। अतएव इन तीनो का सामान्य व विशेष वन्धस्वामित्व इन-इन गुणस्थानो के वन्धस्वामित्व के समान ही समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य और विशेष रूप से मिथ्यात्व मे ११७, सास्वादन मे १०१ और मिश्रदृष्टि मे ७४ प्रकृतियो का वन्धस्वामित्व होता है।

देशविरति और सूक्ष्मसंपराय ये दो सयममार्गणा के भेद है और इन दोनो सयमों मे अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान होता है। यानी देशविरति सयम केवल पांचवे गुणस्थान में और सूक्ष्मसंपराय केवल दसवे गुणस्थान मे होता है। अतएव इन दोनों का वन्धस्वामित्व भी अपने-अपने नाम वाले गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही है। अर्थात् सामान्य और विशेष रूप से देशविरति का वन्धस्वामित्व ६७ प्रकृतियो का और सूक्ष्मसंपराय का वन्धस्वामित्व १७ प्रकृतियो का है।

समय-समय जो आहार करे उसे आहारक (आहारी) कहते है। जितने भी संसारी जाव है, वे जव तक अपनी-अपनी आयुष्य के कारण संसार मे रहते है, अपने-अपने योग्य कर्मों का आहरण करते रहते है। गुणस्थानों की अपेक्षा पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव आहारक हैं और इन सव जीवो का ग्रहण आहारमार्गणा में किया जाता है। अतएव इसमें ५

मिथ्यात्व से लेकर तेरहवें सयोगि केवली गुणस्थान तक तेरह गुण-स्थान माने जाते है। इस मार्गणा में विद्यमान जीवो के सामान्य से तथा विशेप रूप से अपने-अपने प्रत्येक गुणस्थानो मे वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए। जैसे कि वन्धाधिकार मे सामान्य से १२० प्रकृतियों का वन्ध वताया गया है, वैसे ही आहार-मार्गणा मे भी १२० प्रकृतियों का तथा गुणस्थानो की अपेक्षा पहले मे ११७, दूसरे मे १०१, तीसरे में ७४, चौथे मे ७७, पाँचवे मे ६७, छठे मे ६३, सातवे मे ५६ या ५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवे मे २२।२१।२०।१६।१८, दसवें मे १७, ग्यारहवे मे १, वारहवे में १ तेरहवे में १ प्रकृति का वन्ध समझना चाहिए।

सारांश यह है कि सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक औ क्षायिक ये तीन भेद है। उनमें से औपशमिक सम्यक्त्व, उपशम भा चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थान तक रह है, इसलिए उपशम सम्यक्त्व मार्गणा में आठ गुणस्थान माने ज है। उपशम सम्यक्त्व के समय आयुवन्ध नही होता है, अतः सामा की अपेक्षा ७५ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

वेदक सम्यक्त्व (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व) चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में होता है। इसके वाद श्रेणि प्रारंभ हो जाती है और श्रेणि दो प्रकार की है—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। अतः क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते है। इसमें आहारकद्विक का वन्ध होना संभव है। इसलिए इसका सामान्य से वन्धस्वामित्व ७६ प्रकृतियो का और गुणस्थानों की अपेक्षा वन्धाधिकार के समान चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौदहवें गुणस्थान तक ग्यारह गुणस्थानो में पाया जाता है। इसमें भी आहारकद्विक का वन्ध सभव होने से सामान्य से ७६ प्रकृतियो का

और गुणस्थानो की अपेक्षा वन्धाधिकार के समान चौथे से लेकर चौदहवे तक प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र दृष्टि—ये तीनों भी सम्यक्त्व मार्गणा के भेद है और इनमे अपने-अपने नामवाला एक-एक गुणस्थान होता है। अतएव इन तीनो का सामान्य तथा विशेष वन्ध अपने-अपने नामवाले गुणस्थान के समान समझना चाहिए।

संयममार्गणा के देशविरति और सूक्ष्मसंपराय संयम में अपने-अपने नामवाला एक-एक गुणस्थान, अर्थात् देशविरति में देशविरत नामक पाँचवाँ और सूक्ष्मसंपराय में सूक्ष्मसपराय नामक दसवाँ गुणस्थान होता है। अतएव इन दोनों का वधस्वामित्व भी इन-इन गुणस्थानो के समान सामान्य और विशेष रूप से समझना चाहिए।

आहारकमार्गणा में मोक्ष न होने से पूर्व तक के सभी संसारी जीवो का ग्रहण किया जाता है। अतएव इस मार्गणा मे पहले से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान है। इस मार्गणा में सामान्य रूप से तथा प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

इसप्रकार से सम्यक्त्वमार्गणा व संयममार्गणा के कुछ भेदों तथा आहारमार्गणा में सामान्य और विशेष रूप से वन्धस्वामित्व का कथन करने के पश्चात अव सम्यक्त्वमार्गणा के भेद उपशम सम्यक्त्व की विशेपता को आगे की गाथा मे वताते है—

परमुवसमि वट्टंता आउ न बंधति तेण अजयगुणे।
देवमणुआउहीणो देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥२०॥

गाथार्थ उपशम सम्यक्त्व मे वर्तमान जीव आयुवन्ध नही करते है। इसलिए अयत-अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे देवायु और मनुष्यायु को छोड़कर अन्य प्रकृतियों का वन्ध होता है तथा

देशविरति आदि गुणस्थानो मे -देवायु के विना अन्य स्वयोग्य प्रकृतियो का वन्ध होता है ।[1]

विशेपार्थ—पूर्व गाथा मे सम्यक्त्व मार्गणा के उपशम, क्षायोपशम और क्षायिक भेदो मे वन्धस्वामित्व वतलाया गया है । उनमे से उपशम सम्यक्त्व के चोथे से लेकर ग्यारहवे तक आठ गुणस्थान वतलाये गये है और सामान्य एवं गुणस्थानो की अपेक्षा वन्धस्वामित्व का कथन किया गया है । लेकिन उपशम सम्यक्त्व मे यह विशेपता है कि इसमें वर्तमान जोव के अध्यवसाय ऐसे नही होते है जिनसे आयु का वन्ध किया जा सके । क्योकि उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है—(१) ग्रंथिभेदजन्य तथा (२) उपशम श्रेणि में होने वाला । इनमें से ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी जीव को होता है और उपशम श्रेणि वाला आठवे से ग्यारह—इन चार गुणस्थानो में होता है ।

उक्त दोनो प्रकारो मे से उपशम श्रेणि सम्वन्धी गुणस्थानो में आयु का वन्ध सर्वथा वर्जित है । क्योंकि आयुवन्ध सातवे गुणस्थान तक होता है, उससे आगे नही ।

ग्रंथिभदजन्य उपशम सम्यक्त्व चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान तक होता है । लेकिन इन गुणस्थानो मे औपशमिक सम्यक्त्वी आयु-

---

१. इस गाथा के विषय की स्पष्टता के लिए प्राचीन वन्धस्वामित्व (गा० ५१, ५२) मे कहा है—

> उवसम्मे वट्टता चउण्हमिक्कपि आउय नेय ।
> वधंति तेण अजया सुरनरआउहि ऊणतु ॥
> ओघो देस जयाइसु सुराउहीणो उ जाव उवसतो ।

उपशम सम्यक्त्व मे वर्तमान जीव चारो मे से एक भी आयु का अविरत सम्यग्दृष्टि जीव वन्ध नही करता है । इसलिए औपशमिक अविरत सम्यग्दृष्टि देवायु और मनुष्यायु का वन्ध नही करते है तथा देशविरति आदि मे देवायु का वन्ध नही करते है ।

[illegible] नहीं कर सकता है। क्योंकि [illegible] अनन्ता-
नुबन्धी का बन्ध, उदय, आयु का बन्ध और मरण इन चार कार्यों में से एक
का [illegible] कर सकता है, परन्तु इनमें से एक भी कार्य उपशम
सम्यग्दृष्टि नहीं कर सकता है।[1] अतः उपशम सम्यक्त्व में [illegible]
आयुबन्ध योग्य अध्यवसाय नहीं होते हैं। इसलिए उपशम सम्यक्त्व के
चौथे आदि गुणस्थानों में से चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यग्दृष्टि
को देवायु और मनुष्यायु इन दो का वर्जन इसलिए किया है कि
इन दो आयुओं का बन्ध संभव है, अन्य आयुओं का बन्ध
नहीं। क्योंकि चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक
मनुष्यायु को और तिर्यंच तथा मनुष्य देवायु को ही बांध सकते हैं।
इसलिए सामान्य से बन्धाधिकार में जो चौथे गुणस्थान में ७७
प्रकृतियों का बन्ध बतलाया गया है, उसके बदले उपशम सम्यग्दृष्टि
७५ प्रकृतियों का बन्ध करता है।

उपशम सम्यग्दृष्टि के पाँचवें आदि गुणस्थानों के बन्ध में केवल
देवायु को छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि उन गुणस्थानों
में केवल देवायु का बन्ध संभव है। क्योंकि पांचवें गुणस्थान के
अधिकारी तिर्यंच और मनुष्य है और छठे एवं सातवें गुणस्थान के
अधिकारी मनुष्य ही हैं, जो केवल देवायु का बन्ध कर सकते हैं।
सामान्य बन्ध में से मनुष्यायु पहले ही कम की जा चुकी है। अतएव
उपशम सम्यग्दृष्टि के देशविरत में ६६, प्रमत्तविरत में ६२ और
अप्रमत्त विरत में ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सारांश यह है कि उपशम सम्यक्त्व ग्रन्थिभेदजन्य और उपशम
श्रेणिगत के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से ग्रन्थिभेदजन्य उपशम
सम्यक्त्व मे चौथे से सातवे तक और श्रेणिगत में आठवें से लेकर
ग्यारहवे तक कुल आठ गुणस्थान होते हैं। उनमें से उपशम श्रेणिगत

---

१ अणवन्धोदयमाउगवन्धं कालं च सासणो कुणई।
उवसमसम्मदिट्ठी चउण्हमिक्कंपि नो कुणई ॥

गुणस्थानो में तो आयुबन्ध होता ही नही है। क्योकि आयुवन्ध के अध्यवसाय सातवें गुणस्थान तक ही होते है और इन गुणस्थानो में भी ऐसे अध्यवसाय नही होते है कि जिनसे आयुवन्ध हो सके। इसलिए चौथे से लेकर सातवे गुणस्थान मे बंधाधिकार के समान वन्ध न होने की वजाय चौथे में ७५, पाँचवे में ६६, छठे में ६२ और सातवें में ५८ प्रकृतियो का वन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से सम्यक्त्वमार्गणा के भेद उपशम सम्यक्त्व सम्वन्धी विशेषता वतलाने के वाद अव आगे को दो गाथाओ में लेश्यामार्गणा का वन्धस्वामित्व वतलाते है—

ओहे अट्ठारसय आहारदुगूण आइलेसतिगे।
त तित्थोण मिच्छे साणाइसु सव्वहि ओहो ॥२१॥
तेऊ नरयनवूणा उजोयचउ नरयबार विणु सुक्का।
विणु नरयबार पम्हा अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥२२॥

गाथार्थ—आदि की तीन—कृष्ण, नील, कापोत—लेश्याओ में आहारकद्विक को छोड़ कर शेप ११८ प्रकृतियो का सामान्य बंधस्वामित्व है। उनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान मे तीर्थङ्कर प्रकृति कम और सास्वादन आदि तीन गुणस्थानो में बंधाधिकार के समान बंधस्वामित्व समझना चाहिए। तेजोलेश्या का बंधस्वामित्व नरकनवक के सिवाय अन्य सब प्रकृतियो का है तथा उद्योतचतुष्क एव नरकद्वादश इन सोलह प्रकृतियो को छोड़ कर अन्य सव प्रकृतियों का बंध शुक्ललेश्या में होता है तथा पद्मलेश्या मे उक्त नरकद्वादश के सिवाय अन्य सव प्रकृतियो का होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान मे तेज आदि उक्त तीन लेश्याओ मे बंधस्वामित्व तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक को छोड़कर समझना चाहिए।

विशेषार्थ इन दो गाथाओं में लेश्यामार्गणा का बधस्वामित्व वतलाते है। लेश्याओ के छह भेद है–(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेज, (५) पद्म और (६) शुक्ल। योगान्तर्गत कृष्णादि

द्रव्य के सम्बन्ध से आत्मा के जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उन्हें लेश्या कहते है। कषाय उसकी सहकारी है। कषाय की जैसी-जैसी तीव्रता होती है, वैसी-वैसी लेश्याएँ अशुभ से अशुभतर होती है और कषाय की जैसी-जैसी मदता होती है, वैसे-वैसे लेश्याएँ विशुद्ध से विशुद्धतर होती है। जैसे कि अनन्तानुवन्धी कषाय के तीव्रतम उदय होने पर कृष्णलेश्या होती है और मन्द उदय होने पर शुक्ल लेश्या होती है।

कही-कही देवो और नारकों के शरीर के वर्णरूप लेश्या मानी है। क्योकि उनकी लेश्याएँ अवस्थित होती है। सातवे नरक में सम्यक्त्व प्राप्ति मानी है। वहाँ द्रव्य की अपेक्षा कृष्णलेश्या भी मानी है और सम्यक्त्व की प्राप्ति शुभलेश्याओ मे ही होती है। जब ऐसा है तो कृष्णलेश्या मे रहने वाले जीव को सम्यक्त्व कैसे हो सकता है? इसके लिए ऐसा माना जाता है कि द्रव्यलेश्या शरीर के वर्ण रूप और भावलेश्या भिन्न होती है और उससे सातवे नरक के नारकों के सम्यक्त्व प्राप्ति के समय विशुद्ध भावलेश्या होती है, किन्तु द्रव्य से तो कृष्णलेश्या होती है। अर्थात् प्रतिविम्व रूप से तेजोलेश्या सरीखी होती है। तात्पर्य यह है कि देव और नारको की लेश्याएँ अवस्थित होती है, परन्तु शरीर के वर्ण रूप द्रव्यलेश्याएँ होती है और भाव की अपेक्षा वे लेश्याएँ उस-उस समय के भावानुसार होती है।

यहाँ यह विचारणीय है कि तीसरे कर्मग्रथ में कृष्ण, नील, कापोत—इन तीन लेश्याओ मे मिथ्यात्वादि चार गुणस्थान और चौथे कर्मग्रंथ मे 'पढमतिलेसासु छच्च' (गाथा २३) द्वारा छह लेश्याएँ वतलाई है। तो इसका समाधान यह है कि पूर्वप्राप्त (पहले से पाये हुए) पाँचवे, छठे गुणस्थान वाले के कृष्णादिक तीन लेश्याएँ हो सकती है, किन्तु कृष्णादिक तीन लेश्या वाले पांचवां, छठा गुणस्थान प्राप्त नही कर सकते है। अतः इस दृष्टि से चार और

छह गुणस्थान कृष्णादि तीन लेश्या वालों के होने में कोई विरोध नही है। जैसे कि—

सम्मत्त सुअ सव्वासु लहइ, सुद्धीसु ति सुय चारित्तं।
पुव्वडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए॥

सम्यक्त्व श्रुत सर्व लेश्याओ में होता है और चारित्र तीन शुभ लेश्याओ—तेज, पद्म ओर शुक्ल में प्राप्त होता है तथा पूर्वप्रतिपन्न (सम्यक्त्वादि सामायिक, श्रुत सामायिक, देशविरति सामायिक, सर्वविरति चारित्र सामायिक ये पूर्व मे प्राप्त हुए हो वैसे) जीव छह में से किसी भी लेश्या मे होते है।

उक्त कृष्ण आदि छह लेश्याओं में से कृष्ण, नील, कापोत—इन तीन लेश्या वालो के आहारकद्विक का वंध नही होता है। क्योकि आहारकद्विक का वन्ध सातवे गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थानो मे नही होता है तथा उक्त कृष्णादि तीन लेश्या वाले अधिक-से-अधिक छह गुणस्थानो तक पाये जाते है। अतएव उनके सामान्य से ११८ प्रकृतियो का और गुणस्थानो की अपेक्षा पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म के सिवाय ११७, दूसरे मे १०१, तीसरे मे ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्ध माना है।

कृष्णादि तीन लेश्याओं में चौथे गुणस्थान के समय ७७ प्रकृतियो का वन्धस्वामित्व 'साणाइसु सव्वहिं ओहो' इस कथन के अनुसार माना है और इसी प्रकार प्राचीन वन्धस्वामित्व में भी उल्लेख किया गया है—

सुरनरआउयसहिया अविरयसम्माउ होंति नायव्वा।
तित्थयरेण जुया तह तेऊलेसे परं वोच्छं॥४२॥

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कृष्णादि तीन लेश्याओ के चतुर्थ गुणस्थान की ७७ प्रकृतियो में मनुष्यायु की तरह देवायु की गिनती है। इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे भी वेदमार्गणा से लेकर आहारकमार्गणा:पर्यन्त सव मार्गणाओ का बंधस्वामित्व गुण-

स्थान के समान कहा है[1] और चतुर्थ गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का वन्ध स्पष्ट रूप से माना है ।[2]

इसप्रकार कर्मग्रन्थकार कृष्णादि तीन लेश्याओ में चतुर्थ गुणस्थान में ७७ प्रकृतियो का वन्ध मानते है, जवकि सिद्धान्त की अपेक्षा इसमें मतभिन्नता है । सिद्धान्त में वतलाया गया है कि कृष्णादि तीन लेश्याओ के चौथे गुणस्थान में जो दो आयू का वन्ध कहा है, वहां एक ही मनुष्यायु का वन्ध सम्भव है । क्योंकि नारक, देव तो मनुष्यायु को बाँधते है, परन्तु मनुष्य और तिर्यच देवायु को नही वाँधते है । क्योंकि जिस लेश्या में आयु वन्ध हो, उसी लेश्या में उत्पन्न होना चाहिए और सम्यग्दृष्टि तो वैमानिक देवो का ही आयु वाँधते है और वैमानिक देवों में कृष्ण, नील एवं कापोत लेश्या नहीं है, अशुद्ध लेश्या वाला सम्यग्दृष्टि देवायु का वंध नही करते है । इस सम्वन्धी भगवती० शतक ३० उद्देश १ का पाठ यह है—

'कण्हलेस्साणं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेति पुच्छा ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेति, णो देवाउयं पकरेंति । अकिरिया अणाणिय वेणइयवादी य चत्तारिवि आउयं पकरेति । एवं णील लेस्सावि काउलेस्सावि ।

'कण्हलेस्साणं भंते ! किरियावादी पंचिदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पुच्छा ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति णो मणुस्साउयं पकरेति णो देवाउयं पकरेति । अकिरियावादी अणाणियवादी वेणइयवादी चउव्विहंपि पकरेंति । जहा कण्हलेस्सा एवं णीललेस्सावि काउलेस्सावि ।

जहा पंचिदियतिरिक्ख जोणियाणं वत्तव्वा भणिया एवं मणुस्साणवि भाणियव्वा ।'

---

१ वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघ तु ।

—गो० कर्मकांड ११९

२ गो० कर्मकाड गा० १०३

कृष्णलेश्या वाले क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि)[1] जीव क्या नरकायु का वन्ध करते है ; इत्यादि ? हे गौतम ! नरक आयु को नही वांधते है, तिर्यंच आयु को नही वांधते है, मनुष्यायु को वॉधते है, देवायु को नही वॉधते हैं, और अक्रियावादी आदि मिथ्यादृष्टि चारो आयु का वन्ध करते हैं। इसीप्रकार नील और कापोत लेश्या वालो के लिए भी समझना।

हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय तिर्यच क्या नरकायु का वन्ध करते है ? गौतम ! वे नरकायु का वन्ध नही करते है, तिर्यचायु का वन्ध नही करते है, मनुष्यायु का वन्ध नही करते है, देवायु का वन्घ नही करते है और मिथ्यादृष्टि चारों आयु का वन्ध करते है। इसी प्रकार नील और कापोत लेश्या के लिए भी समझना चाहिए।

जिसप्रकार से पंचेन्द्रिय तिर्यच जीवो के लिए कहा है वैसे ही मनुष्यों के लिये भी समझना चाहिए।

सिद्धान्त के उक्त कथन के आधार पर श्री जीवविजय जी और श्री जयसोमसूरि ने अपने-अपने टबे में शंका उठाई है कि 'चौथे गुणस्थानवर्ती कृष्णादि तीन लेश्या वाले जीवों को देवायु का वन्ध नही माना जा सकता है। अतः चतुर्थ गुणस्थान मे ७७ प्रकृतियो के बजाय देवायु के बिना ७६ प्रकृतियों का वन्ध माना जाना चाहिए। इस मतभिन्नता का समाधान कही नही किया गया है। टबाकारो ने भी बहुश्रुतगम्य कहकर उसे छोड़ दिया है। गोम्मटसार कर्मकांड में तो इस शंका को स्थान ही नही है, क्योंकि वहां भगवती का पाठ मान्य करने का आग्रह नही है। परन्तु भगवती सूत्र को मानने वाले कर्मग्रांथिकों के लिए यह शंका उपेक्षणीय नही है।

---

१ 'किरियावादी' शब्द का अर्थ टीका मे क्रियावादी—सम्यक्त्वी—किया गया है।

अतएव उक्त शका के सम्वन्ध मे जव तक दूसरा प्रामाणिक समाधान न मिले, तव तक यह समाधान मान लेने मे आपत्ति नही होनी चाहिए कि कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले सम्यग्दृष्टि के जो प्रकृतिबन्ध में देवायु की गणना की गई है, वह कर्मग्रंथ सम्वन्धी मत है, सैद्धान्तिक मतानुसार नही ।

कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का कई विषयों में मतभेद है ।[1] इसलिए इस कर्मग्रथ में भी उक्त देवायु का वन्ध होने न होने के सम्वन्ध मे कर्मग्रंथ और सिद्धान्त का मतभेद मानकर आपस मे विरोध का परिहार कर लेना उचित है ।

इस प्रकार से कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओ का वन्धस्वामित्व बतलाने के वाद अव तेज, पद्म और शुक्ल—इन शुभ लेश्याओ का वन्धस्वामित्व वतलाते है ।

तेजोलेश्या पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सातवे गुणस्थान तक पाई जाती है और नरकनवक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरक आयु, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नाम, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन नौ प्रकृतियो का वन्ध अशुभ लेश्याओ में होने के कारण तेजोलेश्या धारण करने वालो के उक्त नौ प्रकृतियो का वन्ध नही होने से और तेजोलेश्या वाले उन स्थानो मे पैदा नही होते जिनमे नरकगति, सूक्ष्म एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में उक्त प्रकृतियो का उदय होता है, अतः तेजोलेश्या मे सामान्य से १११ प्रकृतियों का बंध

---

१ सासणभावे नाण विउव्वगाहारगे उरलमिस्स ।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगय सुयमय पि ॥

—कर्मग्रन्थ ४।४६

सासादन अवस्था मे सम्यग्ज्ञान, वैक्रियशरीर तथा आहारक शरीर वनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग और एकेन्द्रिय जीवो मे सासादन गुणस्थान का अभाव यह तीन वाते यद्यपि सिद्धान्त-सम्मत है तथापि इस ग्रंथ मे इनका अधिकार नही है ।

माना जाता है तथा पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक का अन्ध न होने से सामान्य से वन्धयोग्य १११ प्रकृतियो मे से ३ प्रकृतियों को कम करने पर १०८ प्रकृतियो का और दूसरे से सातवे गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व है। अर्थात दूसरे मे १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवे में ६७, छठे मे ६३ और सातवें मे ५९ या ५८ प्रकृतियो का वन्ध होता है।

यद्यपि गाथा के संकेतानुसार पहले शुक्ललेश्या का वन्धस्वामित्व वतलाना चाहिए। लेकिन सुविधा की दृष्टि से पहले तेजोलेश्या के वाद क्रमप्राप्त पद्मलेश्या का वन्धस्वामित्व वतलाते है।

पद्मलेश्या में भी तेजोलेश्या के समान पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सात गुणस्थान होते है, किन्तु तेजोलेश्या की अपेक्षा पद्मलेश्या की यह विशेषता है कि इस लेश्या वाले तेजोलेश्या की नरकनवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों का भी वन्ध नही करते है। क्योकि तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रिय रूप से पैदा हो सकते हैं, किन्तु पद्मलेश्या वाले नरकादि एवं एकेन्द्रिय में उत्पन्न नही होते है, इसलिए एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियो का भी वन्ध नही होता है। अतएव पद्मलेश्या का वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से १०८ प्रकृतियों का और पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म तथा आहारकद्विक का वन्ध न होने से १०५ का और दूसरे से सातवे तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान ही प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिए। दूसरे से लेकर सातवे गुणस्थान में वन्धयोग्य प्रकृतियो की संख्या ऊपर वतलाई जा चुकी है।

शुक्ललेश्या में पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान होते है। पद्मलेश्या की अपेक्षा शुक्ललेश्या की यह विशेषता है पद्मलेश्या की नहीं बंधनेयोग्य नरकगति आदि वारह प्रकृतियो

के अलावा उद्योतचतुष्क–उद्योत नामकर्म, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी और तिर्यचायु का भी वन्ध नहीं होता है। क्योकि ये चार प्रकृतियां तिर्यचप्रायोग्य है। पद्मलेश्या वाला तो उन तिर्यचो मे उपज सकता है, जहाँ उद्योतचतुष्क का उदय होता है, किन्तु शुक्ललेश्या वाला इन प्रकृतियों के उदय वाले स्थानों में उपजता नही है। अतएव उक्त १६ प्रकृतियाँ शुक्ललेश्या में वन्धयोग्य नही है। अतः सामान्य से १०४ प्रकृतियो का वन्ध माना जाता है तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थकर नामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०१ प्रकृतियों का और दूसरे गुणस्थान में नपुंसकवेद, हुंडसंस्थान, मिथ्यात्व और सेवार्त संहनन– इन चार प्रकृतियो को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की वन्धयोग्य १०१ प्रकृतियो में से कम करने पर ९७ प्रकृतियो का वन्ध होता है। नपुंसक वेद आदि इन चार प्रकृतियों को कम करने का कारण यह है कि ये चारों मिथ्यात्व के सद्भाव में बँधती है, किन्तु दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव है। तीसरे से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान मे कर्म-प्रकृतियो का वन्ध आदि वन्धाधिकार में वतलाया है, इसीप्रकार शुक्ललेश्या वालों के लिए समझ लेना चाहिए।

शुक्ललेश्या के वन्धस्वामित्व मे नरकगति आदि तिर्यच आयु पर्यन्त १६ प्रकृतियों का वन्ध नही माना है। अतः यहाँ शंका है—

तत्त्वार्थभाष्य में 'पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु। (अ० ४, सूत्र २३)। शेषेषु लान्तकादिष्वासर्वार्थसिद्धाच्छुक्ललेश्याः तथा सग्रहणी मे, कप्पतिय पम्हलेसा लंताइसु सुक्कलेस हुंति सुरा (गा० १७५)।

प्रथम दो देवलोको में तेजोलेश्या, तीन देवलोकों मे पद्मलेश्या और लान्तक कल्प से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त शुक्ललेश्या वताई है। तो यहाँ प्रश्न होता है कि लान्तककल्प से लेकर सहस्रार कल्प पर्यन्त के शुक्ललेश्या वाले देव तिर्यचों में भी उत्पन्न हो जाते है तो तत्प्रायोग्य उद्योतचतुष्क का वन्ध क्यो नही करते है तथा इस ग्रन्थ की ग्यारहवी गाथा में आनतादि देवलोकों के वन्धस्वामित्व

के प्रसंग में 'आणयाई उज्जोयचउरहिया' आनतादि कल्प के देव उद्योतचतुष्क के सिवाय शेप प्रकृतियों का वन्ध करते है, ऐसा कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि सहस्रार कल्प तक के देव उद्योतचतुष्क का वन्ध करते है और यहा शुक्ललेश्या मार्गणा मे वन्ध का निपेध किया है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध है।

श्री जीवविजय जी और श्री जयसोमसूरि ने भी अपने-अपने टबे में इस पूर्वापर विरोध का दिग्दर्शन कराया है।

इस कर्मग्रथ के समान ही दिगम्वरीय कर्मशास्त्र में भी वर्णन है। दिगम्वरीय कर्मशास्त्र गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ११२ में कहा है—

कप्पित्थीसु ण तित्थं सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं।
तिरियाऊ उज्जोवो अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ ॥[1]

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की इस गाथा मे जो सहस्रार देवलोक तक का बधस्वामित्व कहा है, उसमे इस कर्मग्रन्थ की ग्यारहवी गाथा के समान ही उद्योतचतुष्क की गणना की गई तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा १२१ में शुक्ललेश्या के वन्धस्वामित्व के कथन मे[2] भी उद्योतचतुष्क का वर्णन है।

अतः कर्मग्रंथ और गोम्मटसार में वन्धस्वामित्व समान होने पर भी दिगम्वरीय शास्त्र में उपर्युक्त विरोध नही आता है। क्योकि

1 कल्पवासिनी स्त्रियो मे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध नही होता है और तिर्यचद्विक, तिर्यचायु और उद्योत इन चार प्रकृतियो का वन्ध शतार सहस्रार नामक स्वर्ग तक होता है। आनतादि मे इन चार प्रकृतियो का वन्ध नही होता है। अत इन चार को शतारचतुष्क भी कहते है, क्योकि शतार युगल तक ही इनका बन्ध होता है।

2 सुक्के सदरचउक्क वामतिमवारस च ण व अत्थि।

दिगम्बर मतानुसार लान्तव (लान्तक) देवलोक में पद्मलेश्या ही है।[1] अतएव उक्त दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि सहस्रार कल्प पर्यन्त के बन्धस्वामित्व में उद्योतचतुष्क की जो गणना की गई है, सो पद्मलेश्या वालो की अपेक्षा से, शुक्ललेश्या वालो की अपेक्षा से नही। लेकिन तत्त्वार्थभाष्य, सग्रहणी आदि ग्रन्थो मे देवलोकों की लेश्या के विषय में किये गए उल्लेखानुसार उक्त विरोध का परिहार नही होता है। यद्यपि उस विरोध का परिहार करने के लिए श्री जीवविजय जी ने अपने टबे में कुछ नही लिखा है, लेकिन श्री जयसोमसूरि ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि 'यह मानना चाहिए कि नौवे आदि देवलोको मे ही शुक्ललेश्या है।' इस कथन के अनुसार छठे आदि तीन देवलोको मे पद्म-शुक्ल दो लेश्याए और नौवे आदि देवलोको में केवल शुक्ल लेश्या मान लेने से उक्त विरोध का परिहार हो जाता है।

लेकिन इस पर प्रश्न होता है कि तत्त्वार्थभाष्य और सग्रहणी सूत्र मे छठे, सातवे और आठवे देवलोक मे शुक्ललेश्या का भी उल्लेख क्यो किया गया है ? इसका समाधान यह है कि तत्त्वार्थ-भाष्य और सग्रहणी सूत्र मे जो कथन है वह बहुलता की अपेक्षा से है। अर्थात् छठे आदि तीन देवलोकों मे शुक्ल लेश्या की बहुलता है और इसीलिए उनमें पद्मलेश्या सभव होने पर भी उसका कथन नही किया गया है। अर्थात् शुक्ललेश्या वालो के जो बन्धस्वामित्व कहा गया है, वह विशुद्ध शुक्ललेश्या की अपेक्षा से है।

इसप्रकार तत्त्वार्थभाष्य और सग्रहणीसूत्र की व्याख्या को उदार बनाकर विरोध का परिहार कर लेना चाहिए।

साराश यह है कि कृष्णादि छह लेश्याओ मे कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्यावाले आहारकद्विक को छोड़कर सामान्य से ११८

---

१ ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेपु पद्म लेश्या। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेपु पद्मशुक्ललेश्या.। —तत्त्वार्थ सूत्र ४।२२ सर्वार्थसिद्धि टीका

प्रकृतियां का वन्ध करते है और मिथ्यात्व गुणस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध न होने से ११७ प्रकृतियो का तथा दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान मे वन्धस्वामित्व के समान ही वन्ध समझना चाहिए ।

चौथे गुणस्थान के समय इन कृष्णादि तीन लेश्याओं मे ७७ प्रकृतियो का वन्ध माना है, उसमे देवायु का भी ग्रहण है, जो कर्म-ग्रंथकारो की दृष्टि से ठीक है। लेकिन भगवती सूत्र मे वताया है कि कृष्णादि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वी मनुष्यायु को वाध सकते है, अन्य आयु को नही । इस प्रकार ७६ प्रकृतियो का वन्ध माना जाना चाहिए। इस विरोध का परिहार करने का सरल उपाय यह है कि कृष्णादि तीन लेश्या वाले सम्यक्त्वियो के प्रकृतिवन्ध मे जो देवायु की गणना की गई है, .वह कर्मग्रंथकारो के मतानुसार है, सैद्धान्तिक मत के अनुसार नही ।

तेजोलेश्या पहले सात गुणस्थान मे पाई जाती है और इस लेश्या वाले नरकनवक का वन्ध नही करने से सामान्य से १११ प्रकृतियो का वन्ध करते है और पहले गुणस्थान में तीर्थंकर नाम-कर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०८ और दूसरो से सातवे तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए ।

पद्मलेश्या मे भी तेजोलेश्या के समान ही सात गुणस्थान होते है । लेकिन तेजोलेश्या से इसमे विशेषता यह है कि पद्मलेश्या वाले नरकनवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियो को भी नही वाँधते है । अतएव पद्मलेश्या का वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से १०८ प्रकृतियो का तथा पहले गुणस्थान मे तीर्थंकर नामकर्म तथा आहारकद्विक को घटाने से १०५ का और दूसरे से लेकर सातवे गुणस्थान तक प्रत्येक मे वन्धाधिकार के समान ही वध मझना चाहिए।

शुक्ललेश्या पहले से लेकर तेरह गुणस्थान तक पाई जाती है। इसमे पद्मलेश्या की अवन्ध्य वारह प्रकृतियो के अतिरिक्त उद्योत-चतुष्क का भी वन्ध नही होने से सोलह प्रकृतियाँ सामान्य वन्ध में नही गिनी जाती है। इसलिए सामान्य रूप से १०४ प्रकृतियो का वन्ध होता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०१ का तथा दूसरे गुणस्थान में नपुंसक वेद, हुंडसस्थान, मिथ्यात्व और सेवार्त संहनन इन चार को १०१ मे से कम करने से शेष ९७ प्रकृतियो का और तीसरे से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक गुणस्थानों के समान ही वंधस्वामित्व समझना चाहिए।

इसप्रकार से लेश्यामार्गणा का वन्धस्वामित्व वतलाने के वाद आगे की गाथा मे भव्य आदि शेष रही मार्गणाओ के बन्धस्वामित्व का कथन करते है—

सव्वगुणभव्वसन्निसु ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मभगो अणाहारे ॥२३॥

गाथार्थ—भव्य और संज्ञी मार्गणाओ में सभी गुणस्थानों मे बंधाधिकार के समान वन्धस्वामित्व है तथा अभव्य और असंज्ञियो का वन्धस्वामित्व मिथ्यात्व गुणस्थान के समान है। सास्वादन गुणस्थान में असंज्ञियों का बन्धस्वमित्व संज्ञी के समान तथा अनाहारकमार्गणा का वन्धस्वामित्व कार्मणयोग के समान जानना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा मे भव्य व संज्ञी मार्गणा के भेदो मे तथा आहारमार्गणा के भेद अनाहारक मार्गणा मे वन्धस्वामित्व वतलाया है।

भव्य और संज्ञी—ये दोनों चौदह गुणस्थानो के अधिकारी है। इसलिए इनका वन्धस्वामित्व सामान्य से १२० प्रकृतियों का और गुणस्थानो की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७, सासादन गुण-

स्थान मे १०१ आदि बन्धाधिकार के समान समझना चाहिए। सामान्य और गुणस्थानो में बन्ध का वर्णन दूसरे कर्मग्रन्थ में विशद रूप से किया गया है, अतः यहां पुनरावृत्ति नही की गई है।

द्रव्यमन के विना भावमन नही होता है जैसे कि असज्ञी। केवली भगवान के भावमन के विना भी द्रव्यमन होता है, ऐसा सिद्धान्त मे वताया गया है।[1] अर्थात् केवली भगवान के मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमजन्य मनन परिणाम रूप भावमन नही है, परन्तु अनुत्तर विमान के देवो के द्वारा पूछे गये प्रश्नो के उत्तर द्रव्यमन से देते है। इसलिए भावमन के विना द्रव्यमन होता है और वह मन चौदह गुणस्थान तक होता है। सिद्धान्त मे उसे नोसज्ञी नोअसंज्ञी कहा है। यहा सज्ञीमार्गणा में द्रव्यमन की अपेक्षा संज्ञी मानकर चौदह गुणस्थान वतलाये गये है।

अभव्य जीवो के पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है और सम्यक्त्व एवं चारित्र की प्राप्ति न होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म तथा आहारकद्विक का वन्ध सभव ही नही है। इसलिए सामान्य से तथा पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो को छोड़कर सामान्य व गुणस्थान की अपेक्षा ११७ प्रकृतियो के वन्ध के अधिकारी है।

असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान होते है। इनके सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक का वन्ध नही होने से तीन प्रकृतियो को छोडकर ११७ प्रकृतियो का बन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान मे संज्ञी जीवों के समान १०१ प्रकृतियों के वन्धाधिकारी है।

अनाहारकमार्गणा में कार्मण काययोग मार्गणा के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए। यह मार्गणा पहले, दूसरे, चौथे,

---

१ द्रव्यचित्त विना भाव—चित्त न स्याद्ऽसज्ञिवत्।
विनाऽपि भावचित्त तु द्रव्य केवलिनो भवेत ॥

तेरहवें और चौदहवे इन पाँच गुणस्थानों में पाई जाती है ।[1] इनमें से पहला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान उस समय होते है, जिस समय जीव दूसरे स्थान में पैदा होने के लिए विग्रहगति से जाते है, उस समय एक, दो या तीन समय पर्यन्त जीव को औदारिक आदि स्थूल शरीर नही होने से अनाहारक अवस्था रहती है[2] तथा ारहवे गुणस्थान में केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें ामय में अनाहारकत्व रहता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का निरोध (अभाव) हो जाने से किसी तरह का आहार संभव नही है। इसीलिए उक्त पॉच गुणस्थानों में अनाहारक मार्गणा मानी जाती हैं।

किन्तु यहाँ जो कार्मण योग के समान अनाहारक मार्गणा में वन्धस्वामित्व कहा है, उसका करण यह समझना चाहिए कि यहाँ चार गुणस्थान वन्ध की अपेक्षा से वताये गये हैं, क्योंकि अयोगी तो योग निरोध (अभाव) के कारण अवन्धक ही है। शेष रहे पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें गुणस्थान। उनमें भी विग्रहगति स्थित जीव के भवधारणीय शरीर के अभाव के कारण अनाहारक अवस्था होती है तथा तेरहवे गुणस्थान में जव केवली समुद्घात करे, तव तीसरे चौथे और पांचवे समय मे अनाहारक अवस्था होती है। इस अपेक्षा से तेरहवाँ गुणस्थान समझना चाहिए।

अनाहारक मार्गणा में कार्मण योग के समान सामान्य से ११२

---

१. क—पढमतिमदुगअजया अणहारे मग्गणासु गुणा।

—कर्मग्रन्थ ४।२३

ख—विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुग्घदो अजोगीय।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥

—गो० जीवकांड ६६५

२. एक द्वौ त्रीन्वाऽनाहारक.।

—तत्त्वार्थसूत्र २।३१

प्रकृतियों का और पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ६४, चौथे में ७५ और तेरहवें में १ प्रकृति का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

अनाहारक मार्गणा में जो सामान्य आदि की अपेक्षा वन्ध-स्वामित्व वतलाया है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—वन्धयोग्य १२० प्रकृतियो में से आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, मनुष्यायु, तिर्यचायु—इन आठ प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से ११२ तथा इनमें से जिन नाम, देवद्विक, और वैक्रियद्विक इन पाँच प्रकृ-तियो को कम करने से पहले गुणस्थान में १०७ प्रकृतियो का और इन १०७ प्रकृतियो में से सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम, आतप नाम, नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुड संस्थान और सेवार्त संहनन— इन तेरह प्रकृतियों के कम करने पर दूसरे सास्वादन गुणस्थान में ६४ प्रकृतियों का तथा इनमे से अन-न्तानुबन्धी चतुष्क आदि चौवीस प्रकृतियों को कम करने तथा जिनपंचक प्रकृतियों को मिलने पर चौथे गुणस्थान में ७५ प्रकृतियो का तथा सयोगी केवली गुणस्थान मे एक सातावेदनीय प्रकृति का बन्ध होता है।

सारांश यह है कि भव्य और संज्ञी इन दो मार्गणाओ मे चौदह ही गुणस्थान होते है, अतः इनका सामान्य से और गुणस्थानो की अपेक्षा बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार से बताये गये अनुसार समझना चाहिए।

अभव्य पहले ही गुणस्थान में वर्तमान होते है, अतः इनका वन्धस्वामित्व सामान्य एव गुणस्थान की अपेक्षा पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियो का है।

असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान होते है और इनमें तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक—इन तीन प्रकृतियो का वन्ध होना संभव नही है, अतः सामान्य से और पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का और दूसरे में बन्धाधिकार के समान १०१ [illegible]ति[illegible] का वन्ध होता है।

यद्यपि पहले, दूसरे, चौथे, तेरहवे और चौदहवे इन पाँच गुणस्थानो मे अनाहारक अवस्था होती है। किन्तु वन्ध की अपेक्षा से अनाहारक मार्गणा में कार्मण काययोग के समान, पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ—ये चार गुणस्थान होते है। क्योंकि कर्मवन्ध होना वही तक संभव है, और इनमें सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा बन्ध कार्मणयोग के समान समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य से ११२, पहले गुणस्थान मे १०७, दूसरे मे ७५ व तेरहवे में १ प्रकृति का वन्ध होता है।

इसप्रकार गति आदि चौदह मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व का कथन किया जा चुका है। अव आगे की गाथा में ग्रंथ-समाप्ति एवं लेश्याओ मे गुणस्थानों का कथन करते है—

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा चउ सग तेर त्ति बंधसामित्त ।
देविन्दसूरिलिहियं नेयं कम्मत्थय सोउं ॥२४॥

गाथार्थ—पहली तीन लेश्याओं में आदि के चार गुणस्थान, तेज और पद्म इन दो लेश्याओ में सात गुणस्थान तथा शुक्ललेश्या में तेरह गुणस्थान होते हैं। इसप्रकार श्री देवेन्द्रसूरि द्वारा रचित इस वन्धस्वामित्व प्रकरण का ज्ञान 'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रंथ को जानकर करना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा में ग्रंथ-समाप्ति का संकेत करते हुए लेश्याओं में गुणस्थानों को वतलाया है।

लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन अलग से करने का कारण यह है कि अन्य मार्गणाओ में जितने-जितने गुणस्थान चौथे कर्मग्रथ में वतलाये गये है, उनमें कोई मतभेद नही है, परन्तु लेश्यामार्गणा के सम्वन्ध मे ऐसा नही है। चौथे कर्मग्रन्थ के मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं मे छह गुणस्थान है।[1] परन्तु इस तीसरे कर्मग्रंथ के

---

१. अस्सन्निसु पढमदुग पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।

—चतुर्थकर्मग्रन्थ २३

मतानुसार उनमे चार गुणस्थान ही माने है। यह चार गुणस्थानो का कथन पंचसंग्रह और प्राचीन वन्धस्वामित्व के मतानुसार है। पचसंग्रह और प्राचीन वन्धस्वामित्व की तत्सम्वन्धी गाथाएँ इसप्रकार है—

'छल्लेस्सा जाव सम्मोत्ति' —पचसग्रह १-३०

'छच्चउसु तिण्णि तीसुं छ्एहं सुक्का अजोगी अलेस्सा।'
—प्राचीन वधस्वामित्व गाथा ४०

उक्त मतों का समर्थन गोम्मटसार में भी किया गया है।[१] अतएव कृष्णादि तीन लेश्याओं में वन्धस्वामित्व भी चार गुणस्थानो को लेकर ही किया गया है। कृष्ण आदि तीन लेश्याओं को पहले चार गुणस्थान में मानने का आशय यह है कि ये लेश्याएँ अशुभ परिणाम रूप होने से आगे के अन्य गुणस्थानों में नही पाई जा सकती है। तेज आदि तीन लेश्याओं में से तेज और पद्म—ये दो लेश्याएँ शुभ है परन्तु उनकी शुभता शुक्ललेश्या से वहुत कम है, इसलिए वे दो लेश्याएँ सातवे गुणस्थान तक पाई जाती है और शुक्ललेश्या का स्वरूप परिणामों की मन्दता (शुद्धता) से इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहवे गुणस्थान तक पाई जाती है।

इन छह लेश्याओं का सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा बंधस्वामित्व गाथा २१ और २२ में बतलाया जा चुका है। अतः वहां से समझ लेना चाहिए।

---

१ थावरकायप्पहुदी अविरदसम्मोत्ति असुहतिहलेस्सा।
सएणी दो अपमत्तो जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ॥
—गो० जीवकांड ६९१

अर्थात् पहली तीन अशुभ लेश्याएँ स्थावर काय से लेकर चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त होती है और अन्त की तीन शुभ लेश्याएँ सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त पर्यन्त होती है।

इस ग्रथ में मार्गणाओं को लेकर जीवो के वन्धस्वामित्व का कथन सामान्य रूप से तथा गुणस्थानों को लेकर विशेष रूप से किया गया है। इसलिए इस प्रकरण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए दूसरे कर्मग्रंथ का अध्ययन कर लेना जरूरी है। क्योंकि दूसरे कर्म-ग्रंथ में गुणस्थानों को लेकर प्रकृतिबंध का विचार किया गया है जो इस प्रकरण में भी आता है कि अमुक मार्गणा का वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार के समान है।

इस प्रकरण का नाम बंधस्वामित्व रखने का कारण यह है कि इसमें मार्गणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृतिवन्ध सम्वन्धी योग्यता के वन्धस्वामित्व का विचार किया गया है।

इसप्रकार से श्री देवेन्द्रसूरि विरचित वन्धस्वामित्व नामक यह तीसरा कर्मग्रंथ समाप्त हुआ।

बन्ध स्वामित्व नामक तृतीय कर्मग्रंथ समाप्त।

परिशिष्ट

- ☐ मार्गणाओं में उदय, उदीरणा, सत्ता स्वामित्व
- ☐ मार्गणाओं में बन्ध-उदय-सत्ता-स्वामित्व विषयक दिगम्बरकर्म साहित्य का मन्तव्य
- ☐ श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के समान-असमान मंतव्य
- ☐ बन्धस्वामित्व सूचक अनेक यंत्र
- ☐ जैन कर्म साहित्य का संक्षिप्त परिचय
- ☐ कर्मग्रन्थ भाग १ से ३ तक की मूल गाथाएँ तथा उनका शब्द-कोष

मार्गणाओं में उदय-उदीरणा-सत्ता-स्वामित्व

तीसरे कर्मग्रन्थ मे सामान्य और गुणस्थानो के माध्यम से मार्गणाओ मे वन्धस्वामित्व का कथन है, किन्तु उदय, उदीरणा, सत्ता के स्वामित्व का विचार नही किया गया है। लेकिन उपयोगिता की दृष्टि से सक्षेप मे उनका विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। अत उनसे सम्वन्धित स्पष्टीकरण किया जाता है।

उदयस्वामित्व

नरकगति—इस मार्गणा मे मिथ्यात्व से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थान होते है। सामान्यतया उदययोग्य १२२ प्रकृतियाँ है, उनमे से ज्ञानावरण पाँच, दर्शनावरण चार, अंतराय पाँच, मिथ्यात्व मोहनीय, तैजस नाम, कार्मण नाम, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु नाम, निर्माण नाम, स्थिर नाम, अस्थिर नाम, शुभ नाम और अशुभ नाम ये सत्तावीस प्रकृतियाँ ध्रुवोदयी—अपनी-अपनी उदय भूमिका पर्यन्त अवश्य उदयवती होती है। उनमे मिथ्यात्व मोहनीय की उदयभूमि प्रथम गुणस्थान है और वहाँ वह ध्रुवोदयी है। पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियो का उदय बारहवे गुणस्थान तक और शेष बारह प्रकृतियो का उदय तेरहवे गुणस्थान तक सभी जीवो के होने से वे ध्रुवोदयी हैं। ये सत्तावीस ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ तथा निद्रा, प्रचला, वेदनीयद्विक, नीच गोत्र, नरकत्रिक, पचेन्द्रिय जाति, वैक्रियद्विक, हुन्डसस्थान, अशुभविहायोगति, पराघात, उच्छ्वास नाम, उपघात, त्रसचतुष्क, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश, सोलह कषाय, हास्यादिषट्क, नपुंसक वेद, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय ये ७६ प्रकृतियाँ सामान्य से नारको के उदय मे होती है। उनमे से पचसग्रह और कर्मप्रकृति के मत से स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय वैक्रिय शरीरी देव और नारको के नही होता है। कहा है कि असख्य वर्ष की आयु

वाले मनुष्य, तिर्यञ्च, वैक्रिय शरीर वाले, आहारक शरीर वाले और अप्रमत्त साधु के सिवाय शेष अन्य के स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय और उदीरणा होती है।[1]

सामान्य से उदयवर्ती ७६ प्रकृतियों में से सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ तथा नरकानुपूर्वी और मिथ्यात्व मोहनीय के सिवाय ७२ प्रकृतियाँ सास्वादन गुणस्थान में उदययोग्य हैं, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्र मोहनीय को जोडने पर मिश्रगुणस्थान में ६९ प्रकृतियाँ और उनमें से मिश्र मोहनीय को कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय तथा नरकानुपूर्वी का प्रक्षेप करने से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

तिर्यचगति—इस मार्गणा में पाँच गुणस्थान होते हैं। इसमें देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, मनुष्यत्रिक, उच्च गोत्र और जिन नाम—इन पन्द्रह प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। इसलिए उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से पन्द्रह प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से १०७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। तिर्यंचों के भवधारणीय वैक्रिय शरीर नहीं होता है, किन्तु लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है, अत उसकी अपेक्षा से वैक्रियद्विक को साथ जोडने पर १०९ प्रकृतियाँ उदय में मानी जा सकती है लेकिन सामान्य से १०७ प्रकृतिया उदययोग्य मानी जाती है। पूर्वोक्त १०७ प्रकृतियों में से सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियों को कम करने से मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५ प्रकृतियाँ, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतप नाम और मिथ्यात्व मोहनीय—इन पाच प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदययोग्य होती है, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क,

---

१ क—देखे कर्मप्रकृति उदीरणाकरण गाथा १९—'संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यच के इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद स्त्यानर्द्धित्रिक उदय में आने योग्य है, उसमें भी आहारकलब्धि तथा वैक्रियलब्धि वाले को उसका उदय नहीं होता है।

ख—थीणतिगुदओ णरे तिरिये।

—गो० कर्मकाण्ड २८५

स्थावर नाम, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क और तिर्यचानुपूर्वी—इन दस प्रकृतियो को कम करने पर और मिश्र मोहनीय को जोडने से मिश्र गुणस्थान मे ६१ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। उनमे से मिश्र मोहनीय के कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय तथा तिर्यचानुपूर्वी—इन दो प्रकृतियो को मिलाने मे अविरत गुणस्थान मे ९२ उदय मे होती है। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, दुर्भग, अनादेय, अयश और तिर्यचानुपूर्वी इन आठ प्रकृतियो के सिवाय देशविरति गुणस्थान मे ८४ प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

यहाँ सर्वत्र लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा नही की है, अतएव वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपाग इन दो प्रकृतियो को सर्वत्र कम समझना चाहिए।

मनुष्यगति—इसमे चौदह गुणस्थान होते है। देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, जातिचतुष्क, तिर्यचत्रिक, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और आतप—इन २० प्रकृतियो का उदय मनुष्य के होता नही है, इसलिए उनको कम करने पर सामान्य से १०२ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। परन्तु लब्धि-निमित्तक वैक्रिय शरीर की अपेक्षा उत्तर वैक्रिय शरीर करने पर वैक्रियद्विक और उद्योत नाम का उदय होने से इन तीन प्रकृतियो सहित १०५ प्रकृतियाँ भी उदय मे हो सकती है लेकिन उनकी यहा अपेक्षा नही की गई है। यहाँ सामान्य से जो १०२ प्रकृतियाँ उदय मे आती हैं, उनमे से मिथ्यात्व गुणस्थान मे आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियो का उदय नही होने से, उन्हे कम करने पर ९७ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। अपर्याप्त नाम और मिथ्यात्व मोहनीय—इन दो प्रकृतियो के सिवाय सास्वादन गुणस्थान मे ९५ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। उनमे अनन्तानुबन्धीचतुष्क और मनुष्यानुपूर्वी इन पाँच प्रकृतियो को कम करने और मिश्र मोहनीय को जोडने पर मिश्र गुणस्थान मे ९१ प्रकृतियाँ है तथा उनमे से मिश्र मोहनीय को कम करने तथा सम्यक्त्व मोहनीय एवं मनुष्यानुपूर्वी के मिलाने पर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ९२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और नीचगोत्र इन ९ प्रकृतियों के सिवाय देशविरत गुणस्थान मे ८३

वाले मनुष्य, तिर्यन, वैक्रिय शरीर वाले, आहारक शरीर वाले और अप्रमत्त साधु के सिवाय शेष अन्य के स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय और उदीरणा होती है।[1]

सामान्य से उदयवर्ती ७६ प्रकृतियो मे से सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान मे ७४ प्रकृतियाँ तथा नरकानुपूर्वी और मिथ्यात्व मोहनीय के सिवाय ७२ प्रकृतियाँ सास्वादन गुणस्थान मे उदययोग्य है, उनमे से अनन्तानुवन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्र मोहनीय को जोडने पर मिश्रगुणस्थान मे ६९ प्रकृतियाँ और उनमे से मिश्र मोहनीय को कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय तथा नरकानुपूर्वी का प्रक्षेप करने से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे ७० प्रकृतियाँ उदय मे होती हैं।

तिर्यचगति—इस मार्गणा मे पाँच गुणस्थान होते हैं। इसमे देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, मनुष्यत्रिक, उच्च गोत्र और जिन नाम—इन पन्द्रह प्रकृतियो का उदय नही होता है। इसलिए उदययोग्य १२२ प्रकृतियो मे से पन्द्रह प्रकृतियो को कम करने पर सामान्य से १०७ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। तिर्यचो के भवधारणीय वैक्रिय शरीर नही होता है, किन्तु लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है, अत उसकी अपेक्षा से वैक्रियद्विक को साथ जोडने पर १०९ प्रकृतियाँ उदय मे मानी जा सकती हैं लेकिन सामान्य से १०७ प्रकृतिया उदययोग्य मानी जाती हैं। पूर्वोक्त १०७ प्रकृतियो मे से सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियो को कम करने से मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०५ प्रकृतियाँ, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतप नाम और मिथ्यात्व मोहनीय—इन पाच प्रकृतियो के सिवाय सास्वादन गुणस्थान मे १०० प्रकृतियाँ उदययोग्य होती है, उनमे से अनन्तानुवन्धीचतुष्क,

---

१ क—देखे कर्मप्रकृति उदीरणाकरण गाथा १९—'सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यच के इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के वाद स्त्यानर्द्धित्रिक उदय मे आने योग्य है, उसमे भी आहारकलब्धि तथा वैक्रियलब्धि वाले को उसका उदय नही होता है।

ख—थीणतिगुदओ णरे तिरिये।

—गो० कर्मकाण्ड २८५

स्थावर नाम, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क और तिर्यंचानुपूर्वी—इन दस प्रकृतियो को कम करने पर और मिश्र मोहनीय को जोडने से मिश्र गुणस्थान मे ९१ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। उनमे से मिश्र मोहनीय के कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय तथा तिर्यचानुपूर्वी—इन दो प्रकृतियो को मिलाने मे अविरत गुणस्थान मे ९२ उदय मे होती है। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, दुर्भग, अनादेय, अयश और तिर्यंचानुपूर्वी इन आठ प्रकृतियो के सिवाय देशविरति गुणस्थान मे ८४ प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

यहाँ सर्वत्र लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा नही की है, अतएव वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपाग इन दो प्रकृतियो को सर्वत्र कम समझना चाहिए।

मनुष्यगति—इसमे चौदह गुणस्थान होते है। देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, जातिचतुष्क, तिर्यचत्रिक, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और आतप—इन २० प्रकृतियो का उदय मनुष्य के होता नही है, इसलिए उनको कम करने पर सामान्य से १०२ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। परन्तु लब्धि-निमित्तक वैक्रिय शरीर की अपेक्षा उत्तर वैक्रिय शरीर करने पर वैक्रियद्विक और उद्योत नाम का उदय होने से इन तीन प्रकृतियो सहित १०५ प्रकृतियाँ भी उदय मे हो सकती है लेकिन उनकी यहा अपेक्षा नही की गई है। यहाँ सामान्य से जो १०२ प्रकृतियाँ उदय मे आती है, उनमे से मिथ्यात्व गुणस्थान मे आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियो का उदय नही होने से, उन्हे कम करने पर ९७ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। अपर्याप्त नाम और मिथ्यात्व मोहनीय—इन दो प्रकृतियो के सिवाय सास्वादन गुणस्थान मे ९५ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। उनमे अनन्तानुबन्धीचतुष्क और मनुष्यानुपूर्वी इन पाँच प्रकृतियो को कम करने और मिश्र मोहनीय को जोडने पर मिश्र गुणस्थान मे ९१ प्रकृतियाँ है तथा उनमे से मिश्र मोहनीय को कम करने तथा सम्यक्त्व मोहनीय एवं मनुष्यानुपूर्वी के मिलाने पर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ९२ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति और नीचगोत्र इन ९ प्रकृतियों के सिवाय देशविरत गुणस्थान में ८३

प्रकृतियाँ उदययोग्य है। उक्त ८३ प्रकृतियो मे से प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का उदयविच्छेद पांचवे गुणस्थान मे हो जाने से छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान मे ७९ प्रकृतियाँ उदय योग्य है, लेकिन आहारकद्विक का उदय छठे गुणस्थान मे होता है अत इन दो प्रकृतियो को मिलाने से ८१ प्रकृतियो का उदय माना जाता है।

स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक—इन पॉच प्रकृतियो के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान मे ७६ प्रकृतियाँ होती है। सम्यक्त्व मोहनीय और अतिम तीन सघयण—इन चार प्रकृतियो को कम करने पर अपूवकरण मे ७२ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। हास्यादिपट्क के सिवाय अनिवृत्ति गुणस्थान मे ६६ प्रकनियाँ होती है। वेदत्रिक और सज्वलनत्रिक इन छह प्रकृतियो के अलावा सूक्ष्म संपराय गुणस्थान मे ६० प्रकृतियाँ उदय मे होती है। सज्वलन लोभ के विना उपशातमोह गुणस्थान मे ५९ प्रकृतियाँ होती है। ऋपभ-नाराच और नाराच इन दो प्रकृतियो के सिवाय क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय से ५७ प्रकृतियाँ और निद्रा, प्रचला के सिवाय क्षीणमोह के अतिम समय मे ५५ प्रकृतियाँ होती है। ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अन्तराय ५—इन चौदह प्रकृतियो के उदयविच्छेद होने तथा तीर्थंकर नाम-कर्म उदययोग्य होने से सयोगि केवली गुणस्थान मे ४२ प्रकृतियाँ होती है। औदारिकद्विक, विहायोगतिद्विक, अस्थिर, अशुभ, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, वर्णचतुष्क, निर्माण, तैजस, कार्मण, वज्र-ऋषभनाराच सहनन, दुस्वर, सुस्वर, सातावेदनीय और असातावेदनीय मे से कोई एक—इन ३० प्रकृतियो के विना अयोगि केवलि गुणस्थान मे १२ प्रकृतियो का उदय होता है। सुभग, आदेय, यशकीर्ति, साता या असाता वेदनीय मे से कोई एक, त्रस, वादर, पर्याप्त, पचेन्द्रिय जाति, मनुष्यद्विक, जिन नाम और उच्च गोत्र—ये १२ प्रकृतियाँ अयोगि केवल गुणस्थान के अन्तिम समय उदयविच्छिन्न होती है।

देवगति—इस मार्गणा मे प्रथम चार गुणस्थान होते है। नरकत्रिक, तिर्यचत्रिक, मनुष्यत्रिक, जातिचतुष्क, औदारिकद्विक, आहारकद्विक, सघयणषट्क, न्यग्रोधपरिमण्डलादि पाच सस्थान, अशुभ विहायोगति, आतप,

उद्योत, जिन नाम, स्थावरचतुष्क, दुःस्वर, नपुंसक वेद और नीच गोत्र और स्त्यानर्द्धित्रिक इन १२ प्रकृतियों के बिना ओघ से देवों के ८० प्रकृतियाँ उदय में होते हैं। यहाँ उत्तर वैक्रिय शरीर करने की अपेक्षा देवों के उद्योत नामकर्म का उदय संभव है, परन्तु भवप्रत्यय शरीर निमित्तक उद्योत का उदय विवक्षित होने से दोष नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिश्र व सम्यक्त्व मोहनीय का अनुदय होने से ७८ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। मिथ्यात्व का विच्छेद हो जाने से सास्वादन में ७७ प्रकृतियाँ, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और देवानुपूर्वी —इन पाँच प्रकृतियों को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ७३ प्रकृतियाँ, मिश्र मोहनीय के कम करने तथा सम्यक्त्व मोहनीय और देवानुपूर्वी इन दो प्रकृतियों को जोड़ने पर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।[1]

एकेन्द्रिय जाति—एकेन्द्रिय मार्गणा मे आदि के दो गुणस्थान होते है। वैक्रियाष्टक, मनुष्यत्रिक, उच्चगोत्र, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, द्वीन्द्रियजातिचतुष्क, आहारकद्विक, औदारिक अंगोपांग, आदि के पाच संस्थान, विहायोगतिद्विक, जिन नाम, त्रस, छह संघयण, दुःस्वर, सुस्वर, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सुभग नाम, आदेय नाम—इन ४२ प्रकृतियो के बिना सामान्यत और मिथ्यात्व गुणस्थान मे ८० प्रकृतियाँ होती है और वायुकाय को वैक्रिय शरीर नाम का उदय होने से एकेन्द्रिय मार्गणा मे ८१ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। सूक्ष्मत्रिक, आतप नाम, उद्योत नाम, मिथ्यात्व मोहनीय, पराघात नाम और श्वासोच्छ्वास नाम—इन आठ प्रकृतियो के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ उदय मे होती हैं; क्योकि सास्वादन गुणस्थान एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप् और वनस्पति को अपर्याप्त अवस्था में शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है और आतप नाम, उद्योत नाम, पराघात नाम और उच्छ्वास का उदय

---

१ गो० कर्मकांड मे दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन तीन प्रकृतियों को देवगति में उदययोग्य नही माना है। अतः ७७ प्रकृतियाँ सामान्य से उदययोग्य है। गुणस्थानो मे क्रमश ७५, ७४, ७० और ७१ प्रकृतियों का उदय होता है।

—गो० कर्मकांड ३०४

शरीर पर्याप्ति एव श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण होने के वाद होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का उद्वमन करने वाला सूक्ष्म एकेन्द्रिय, लब्धि अपर्याप्त और साधारण वनस्पति मे उत्पन्न नही होता है, अत उसके वहाँ सूक्ष्मत्रिक उदय मे नही है।[१]

द्वीन्द्रिय जाति—एकेन्द्रिय के समान द्वीन्द्रिय के भी दो गुणस्थान होते है। वैक्रियाष्टक, मनुष्यत्रिक, उच्चगोत्र, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, द्वीन्द्रिय के विना एकेन्द्रिय जातिचतुष्क, आहारकद्विक, आदि के पाँच सघयण, पाँच सस्थान, शुभ विहायोगति, जिननाम, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, सुभग, आदेय, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय—इन चालीस प्रकृतियो के उदय अयोग्य होने से सामान्यत और मिथ्यात्व गुणस्थान मे ८२ प्रकृतियाँ उदय योग्य है। उनमे से अपर्याप्त नाम, उद्योत, मिथ्यात्व, पराघात, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास, सुस्वर, दु.स्वर—इन आठ प्रकृतियो के विना सास्वादन गुणस्थान मे ७४ प्रकृतियाँ उदय मे होती है, क्योकि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय तो वहाँ होता नही है और उसके सिवाय शेप प्रकृतियो का उदय शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के वाद ही होता है और सास्वादन तो शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले ही होता है।

त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति - इन दोनो मार्गणाओ मे भी द्वीन्द्रिय के समान ही दो गुणस्थान होते है और उदयस्वामित्व भी उसके समान जानना चाहिए, किन्तु द्वीन्द्रिय के स्थान पर त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय समझना।[२]

पंचेन्द्रिय जाति—यहाँ चौदह गुणस्थान होते है। जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और आतप इन आठ प्रकृतियो के विना सामान्य से ११४

१　गो० कर्मकाड मे सामान्य से पहले गुणस्थान मे ८० व दूसरे गुणस्थान मे ६९ (स्त्यानर्द्धित्रिक रहित) प्रकृतियो का उदय वताया है।

— **गो० कर्मकांड ३०६-३०८**

२　विकलेन्द्रियो (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) मे सामान्य से पहले गुणस्थान मे ८१ व दूसरे मे ७१ प्रकृतियो का उदय गो० कर्मकाड मे वताया है।

—**गो० कर्मकांड ३०६-३०८**

प्रकृतियां उदय मे होती है। उनमे से आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मोहनीय—इन पांच प्रकृतियो को कम करने पर मिथ्यात्व गणस्थान मे १०६ प्रकृतियां उदय मे होती है तथा मिथ्यात्व मोहनीय, अपर्याप्त और नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियो के सिवाय सास्वादन गुणस्थान मे १०६ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। अनन्तानुवंधीचतुष्क और आनुपूर्वी-त्रिक इन सात प्रकृतियो के विना और मिश्र मोहनीय को मिलाने से मिश्र गुण-स्थान मे १०० प्रकृतियाँ उदय मे होती है। मिश्र मोहनीय को कम करने और चार आनुपूर्वी तथा सम्यक्त्व मोहनीय को सयुक्त करने पर अविरत गुणस्थान मे १०४ प्रकृतियाँ होती है। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियाष्टक, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति इन १७ प्रकृ-तियो के सिवाय देशविरति गुणस्थान मे ८७ प्रकृतियाँ उदय मे होती हैं और छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५६, ५७, ४२ और १२ प्रकृतियो का उदय-स्वामित्व समझना चाहिए।

पृथ्वीकाय—इस मार्गणा मे एकेन्द्रिय की तरह दो गुणस्थान समझना चाहिए। एकेन्द्रिय मार्गणा मे कही गई ४२ प्रकृतियाँ और साधारण नाम के सिवाय सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे ७६ प्रकृतियो का उदय होता है। सूक्ष्म, लब्धि-अपर्याप्त, आतप, उद्योत, मिथ्यात्व पराघात, श्वासोच्छ्वास इन सात प्रकृतियो के विना सास्वादन गुणस्थान मे ७२ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। सास्वादन गुणस्थान करण-अपर्याप्त पृथ्वीकायादि को होता है, किन्तु लब्धि-अपर्याप्त को नही होता है।

अप्काय—पृथ्वीकाय के समान यहाँ भी दो गुणस्थान होते है। पृथ्वीकाय मार्गणा मे कही गई ४३ प्रकृतियाँ और आतप नाम के सिवाय सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे ७८ प्रकृतियाँ होती है। उनमे सूक्ष्म, अपर्याप्त, उद्योत, मिथ्यात्व, पराघात और उच्छ्वास इन छह प्रकृतियो के अलावा सास्वादन गुणस्थान मे ७२ प्रकृतियाँ होती है। क्योकि सूक्ष्म, एकेन्द्रिय और लब्धि-अपर्याप्त मे सम्यक्त्व का उद्वमन करने वाला कोई जीव उत्पन्न नही होता है। अतएव सास्वादन गुणस्थान मे सूक्ष्म और अपर्याप्त

नही होता है। शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद उद्योत नाम और पराघात नाम का उदय होता है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण होने के अनन्तर श्वासोच्छ्वास का उदय होता है और मिथ्यात्व मोह का उदय यहाँ होता नही है।

तेजस्काय, वायुकाय—इनमे पहला गुणस्थान होता है। तेजस्काय मे अप्काय की ४४ तथा उद्योत और यशःकीर्ति इन ४६ प्रकृतियो के सिवाय ७६ प्रकृतियो का तथा वायुकाय मे वैक्रिय शरीर सहित ७७ प्रकृतियो का उदय होता है

वनस्पतिकाय—इस मार्गणा मे दो गुणस्थान होते है। एकेन्द्रिय मार्गणा मे कही गई ४२ प्रकृतियो और आतप नाम के अतिरिक्त सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे ७९ और सास्वादन गुणस्थान मे ७२ प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

त्रसकाय—इसमे चौदह गुणस्थान होते है। उसमे स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और एकेन्द्रिय जाति इन पाँच प्रकृतियो के अलावा सामान्य से ११७ व आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय इन पाँच प्रकृतियो के विना मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११२ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। उनमे से मिथ्यात्व, अपर्याप्त, और नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियो को कम करने से सास्वादन गुणस्थान मे १०९ प्रकृतियाँ होती है। उनमे से अनन्तानुबन्धीचतुष्क, विकलेन्द्रियत्रिक और आनुपूर्वीत्रिक—इन दस प्रकृतियो का उदयविच्छेद होता है और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान मे १०० प्रकृतियाँ उदय मे होती है। आनुपूर्वीचतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियो को मिलाने और मिश्र मोहनीय को कम करने पर अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे १०४ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। देशविरति आदि गुणस्थानो मे सामान्य उदयाधिकार मे कहा गया ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२ और १२ प्रकृतियो का उदय क्रमश. समझना चाहिए।

मनोयोग—यहाँ तेरह गुणस्थान होते है। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, आतप और आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेरह प्रकृतियो के सिवाय सामान्य से १०९ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र इन पाच प्रकृतियो के अलावा मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०४ प्रकृतियाँ,

मिथ्यात्व से रहित सास्वादन मे १०३, अनन्तानुबन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान मे १०० तथा मिश्र मोहनीय को कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय को जोड़ने पर अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे १००, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायुष, नरकगति, नरकायु, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन तेरह प्रकृतियो के सिवाय देशविरति गुणस्थान मे ८७ प्रकृतियाँ उदय मे होती हैं। शेष रहे गुणस्थानो मे मनुष्यगति मार्गणा के समान उदय समझना चाहिए।

वचनयोग—यहाँ तेरह गुणस्थान होते है। स्थावरचतुष्क, एकेन्द्रिय जाति, आतप और आनुपूर्वीचतुष्क—इन दस प्रकृतियो के सिवाय सामान्य से ११२, आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र—इन पाँच प्रकृतियो के विना मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०७, मिथ्यात्व मोहनीय और विकलेन्द्रिय-त्रिक इन चार प्रकृतियो के सिवाय सास्वादन गुणस्थान मे १०३ प्रकृतियाँ होती है। यद्यपि विकलेन्द्रिय को वचनयोग होता है, परन्तु भाषापर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही होता है और सास्वादन तो शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है। इसलिए इस मार्गणा मे सास्वादन गुणस्थान मे वचनयोग नही होता है। अतएव विकलेन्द्रियत्रिक निकाल दिया है। उसमे से अनन्तानुबन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान मे सौ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। अविरति से लेकर आगे के गुणस्थानो मे मनोयोग मार्गणा के समान समझना चाहिए।

काययोग—इस मार्गणा मे तेरह गुणस्थान होते है। इसमे सामान्य से १२२, मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७, सास्वादन मे १११ इत्यादि सामान्य उदयाधिकार के कही प्रकृतियो का उदय समझना चाहिए।

पुरुषवेद—इसमे नौ गुणस्थान होते है। नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, अपर्याप्त, जिन नाम, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इन १५ प्रकृतियो के सिवाय सामान्य से १०७ प्रकृतियो का उदय होता हैं। उनमे से आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र इन चार प्रकृतियो के अलावा मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०३ प्रकृतियाँ, मिथ्यात्व प्रकृति के विना सास्वादन मे १०२, उनमे से अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वी-

त्रिक—इन सात प्रकृतियो को कम करने और मिश्र मोहनीय को जोडने से मिश्र गुणस्थान मे ९६ प्रकृतिया और उनमे से मिश्र मोहनीय को निकाल कर सम्यक्त्व तथा आनुपूर्वीत्रिक—इन चार प्रकृतियो को जोडने से अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे ९९ प्रकृतियाँ होती है। आनुपूर्वीत्रिक, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, देवगति, देवायुष, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश इन १४ प्रकृतियो के विना देशविरति गुणस्थान मे ८५ प्रकृतियाँ होती है। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, तिर्यचगति, तिर्यचायुष, उद्योत और नीचगोत्र—इन आठ प्रकृतियो को कम करके आहारकद्विक को मिलाने से प्रमत्त गुणस्थान मे ७९ प्रकृतियाँ होती है। उनमे से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियो के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान मे ७४ प्रकृतियाँ, सम्यक्त्व मोहनीय और अतिम तीन सघयण—इन चार प्रकृतियो के विना अपूर्वकरण गुणस्थान मे ७० प्रकृतियाँ होती है और हास्यादि छह प्रकृतियो के विना अनिवृत्ति गुणस्थान मे ६४ प्रकृतियाँ होती है।

स्त्रीवेद—इसमे भी पुरुषवेद के समान नौ गुणस्थान होते है और यहाँ सामान्य से तथा प्रमत्त गुणस्थान मे आहारकद्विक के विना तथा चौथे गुणस्थान मे आनुपूर्वीत्रिक के सिवाय शेष रही प्रकृतियो का उदय समझना चाहिए। क्योकि प्राय स्त्रीवेदी के परभव मे जाते समय चतुर्थ गुणस्थान नही होता है। अत. आनुपूर्वीत्रिक का उदय नही होता है और स्त्री चतुर्दश पूर्वधर नही होती है। इसलिए उसे आहारकद्विक का भी उदय नही होता है। अतः सामान्य से तथा नौ गुणस्थानो मे अनुक्रम से १०५, १०३, १०२, ९६, ९६, ८५, ७७, ७४, ७० और ६४ इस प्रकार उदय समझना चाहिए।

नपुंसकवेद—इसमे भी नौ गुणस्थान होते हैं। इसमे देवत्रिक, जिन नाम, स्त्रीवेद और पुरुषवेद, आहारकद्विक इन ८ प्रकृतियो के सिवाय सामान्य से ११४, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियो के विना मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११२ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। उनमे से सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियो को कम करने पर सास्वादन गुणस्थान मे १०६ प्रकृतियाँ होती है। अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, स्थावर और जातिचतुष्क इन ११ प्रकृतियो के कम करने और

मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गणस्थान मे ६६ प्रकृतियाँ और मिश्र मोहनीय के क्षय व सम्यक्त्व व नरकानुपूर्वी के उदययोग्य होने के अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे ६७ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। उनमे से अप्रत्या-ख्यानावरणचतुष्क, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश — इन बारह प्रकृतियो के बिना देशविरति गुणस्थान मे ८५ प्रकृतियाँ होती है। तिर्यंचगति, तिर्यंचायुष, नीचगोत्र, उद्योत और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क—इन आठ प्रकृतियो को कम करने से ७७ प्रकृतिया प्रमत्त गुणस्थान मे होती है। स्त्यानर्द्धित्रिक,—इन तीन प्रकृतियो के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान मे ७४ प्रकृतियाँ, सम्यक्त्व मोहनीय और अतिम तीन सघयण—इन चार प्रकृतियो के बिना अपूर्वकरण गुणस्थान मे ७० प्रकृतियाँ और हास्यादिषट्क के बिना अनिवृत्ति गुणस्थान मे ६४ प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

क्रोध—यहाँ नौ गुणस्थान होते है। मान—४, माया—४, लोभ—४, और जिन नाम—इन तेरह प्रकृतियो के बिना सामान्य से १०६, सम्यक्त्व, मिश्र और आहारकद्विक—इन ४ प्रकृतियो के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०५, सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियो के बिना सास्वादन मे ६६ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, स्थावर, जातिचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक—इन नौ प्रकृतियो को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान मे ६१ प्रकृतियाँ, उनमे से मिश्र मोहनीय को कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय तथा आनुपूर्वीचतुष्क को मिलाने पर अविरत गुणस्थान मे ६५ प्रकृतियाँ, उनमे से अप्रत्याख्याना-वरण क्रोध, आनुपूर्वीचतुष्क, देवगति, देवायुष, नरकगति, नरकायुष, वैक्रिय-द्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन चौदह प्रकृतियो के बिना देशविरति गुणस्थान मे ८१ प्रकृतियाँ होती है। तिर्यंचगति, तिर्यंचायुष, उद्योत, नीचगोत्र और प्रत्याख्यानावरण क्रोध—इन पाँच प्रकृतियो के न्यून करने और आहारक-द्विक के मिलाने पर प्रमत्त गुणस्थान मे ७८ प्रकृतियाँ होती है। स्त्यानर्द्धि-त्रिक और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियो के कम करने पर अप्रमत्त गुणस्थान मे ७३ प्रकृतिया, सम्यक्त्व मोहनीय और अन्तिम तीन सहनन—इन चार प्रकृतियो के बिना अपूर्वकरण गुणस्थान मे ६९ और हास्यादिषट्क बिना अनिवृत्ति गुणस्थान मे ६३ प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

मान, माया और लोभ—यहाँ उदयस्वामित्व पूर्ववत् समझना चाहिए। परन्तु मान और माया कषाय मार्गणा मे नौ गुणस्थान होते है। इसी प्रकार अपने सिवाय अन्य तीन कषायो की बारह प्रकृतियाँ भी कम करनी चाहिए। जैसे कि मान मार्गणा मे अन्य तीन कषाय के अनन्तानुबन्धी आदि बारह भेद और जिन नाम—इन तेरह प्रकृतियो के सिवाय सामान्य से १०९ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। इसीप्रकार अन्य कषायो के लिए भी समझना चाहिए। लोभ मार्गणा मे दसवे गुणस्थान मे तीन वेदो के कम करने पर ६० प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

मति, श्रुत और अवधि ज्ञान—यहाँ चौथे से लेकर बारहवे तक नौ गुणस्थान होते है। सामान्य से १०६ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। आहारकद्विक के सिवाय अविरति गुणस्थान मे १०४ और देशविरति आदि गुणस्थानो मे सामान्य उदयाधिकार के अनुसार ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९ और ५७ का उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

मनःपर्यायज्ञान—इस मार्गणा मे प्रमत्त गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक सात गुणस्थान होते है, इसलिए सामान्य से ८१ और प्रमत्तादि गुणस्थानो मे ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९ और ५७ प्रकृतियाँ उदय मे समझनी चाहिए।

केवलज्ञान—इस मार्गणा मे तेरहवाँ और चौदहवाँ ये दो गुणस्थान होते हैं। उनमे सामान्यत ४२ और १२ प्रकृतियाँ अनुक्रम से समझना चाहिए।

मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान—यहाँ आदि के तीन गुणस्थान समझना चाहिए। आहारकद्विक, जिन नाम और सम्यक्त्व मोहनीय के बिना सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११८, सास्वादन गुणस्थान मे १११ और मिश्र गुणस्थान मे १०० प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

विभंग ज्ञान—यहाँ भी पूर्व कथनानुसार तीन गुणस्थान होते है। आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व, स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, आतप, मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी इन पन्द्रह प्रकृतियो के सिवाय सामान्य से १०७ प्रकृतिया उदययोग्य होती है। मनुष्य और तिर्यंच मे विग्रहगति से विभग ज्ञान सहित नही उपजता है, ऋजुगति से उपजता है, अतएव यहाँ मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी का निषेध किया है। मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिश्र मोहनीय के सिवाय १०६

प्रकृतियाँ, सास्वादन मे मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी के विना १०४ प्रकृतियाँ, अनन्तानुवन्धीचतुष्क और देवानुपूर्वी को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्रगुणस्थान मे १०० प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयम—इन दोनो चारित्रो मे प्रमत्त से लेकर चार गुणस्थान होते है। उनमे ८१, ७६, ७२ और ६६ प्रकृतियो का क्रमश उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

परिहारविशुद्धि—यहाँ छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान होते है। उनमे पूर्वोक्त ८१ प्रकृतियो मे से आहारकद्विक, स्त्रीवेद, प्रथम सहनन के सिवाय शेष पाँच सहनन—इन आठ प्रकृतियो के विना सामान्य से और प्रमत्त मे ७३ प्रकृतियाँ होती है। परिहारविशुद्धि चारित्र वाला चतुर्दश पूर्व-धर नही होता है तथा स्त्री को परिहारविशुद्धि चारित्र नही होता है और वज्रऋषभनाराच सहनन वाले को ही परिहारविशुद्धि चारित्र होता है, इसीलिए यहाँ पूर्वोक्त आठ प्रकृतियो के उदय का निषेध किया है। स्त्यानर्द्धि-त्रिक के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान मे ७० प्रकृतियाँ उदय मे होती है।[1]

सूक्ष्मसंपराय—यहाँ एक दसवाँ सूक्ष्मसपराय गुणस्थान होता है। और सामान्यत ६० प्रकृतियो का उदय समझना चाहिए।

यथाख्यात—यहाँ अन्त के ११, १२, १३ और १४ ये चार गुणस्थान होते है। उनमें उपशान्त मोह मे ५९, ऋषभनाराच और नाराच इन दो सहनन के सिवाय क्षीणमोह के द्विचरम समय मे ५७, निद्राद्विक के विना अन्तिम समय मे ५५, सयोगि केवली गुणस्थान मे ४२ और अयोगि केवली गुणस्थान मे १२ प्रकृतियो का उदय होता है।

देशविरति—यहाँ पाँचवाँ एक ही गुणस्थान होता है और उसमे सामान्य से ८७ प्रकृतियो का उदय जानना चाहिए।

अविरति—इस मार्गणा मे प्रथम चार गुणस्थान होते है। इसमे जिन नाम और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो के सिवाय सामान्य से ११९,

---

१ दिगम्बराचार्यो ने ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी है और छठे, सातवें गुणस्थान मे क्रमश ७७, ७४ प्रकृतियो का उदय कहा है।

सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियो के विना मिथ्यात्व मे ११७, सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियो के विना सास्वादन मे १११, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्थावर, जातिचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक—इन बारह प्रकृतियो को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान मे १०० प्रकृतियाँ होती है, उनमे आनुपूर्वीचतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियो के मिलाने और मिश्र मोहनीय को कम करने पर अविरति गुणस्थान मे १०४ प्रकृतियाँ उदय मे होती हैं।

चक्षुदर्शन—यहाँ बारह गुणस्थान होते है। जातित्रिक, स्थावरचतुष्क, जिन नाम, आतप, आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेरह प्रकृतियो के विना सामान्य से १०६, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियो के विना मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०५, मिथ्यात्व के विना सास्वादन मे १०४, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और चतुरिन्द्रिय जाति—इन पाँच प्रकृतियो के विना और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान मे १०० तथा अविरतसम्यग्दृष्टि मे १००, देशविरति आदि गुणस्थानो मे सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अचक्षुदर्शन—इस मार्गणा मे भी बारह गुणस्थान होते है। इसमे जिन नाम के विना सामान्य से १२१, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियो के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियाँ होती है। शेष गुणस्थानो मे क्रमश. १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९ और ५७ का उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अवधिदर्शन—यहाँ चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते है। सिद्धान्त के मतानुसार विभगज्ञानी को भी अवधिदर्शन कहा है। अतएव उसके मत मे आदि के तीन गुणस्थान भी होते है। परन्तु कर्मग्रन्थ के मत से विभगज्ञानी को अवधिदर्शन नही होता है। अतएव अवधिज्ञानी के समान सामान्य से १०६ व अविरति गुणस्थान मे १०४ प्रकृतियाँ होती हैं। आगे के गुणस्थानो मे सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

केवलदर्शन—यहाँ अन्तिम दो गुणस्थान होते है और उनमे ४२ तथा १२ प्रकृतियो का अनुक्रम से उदय समझना चाहिए।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्या—यहाँ पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा प्रथम से लेकर छह गुणस्थान होते है। जिन नाम के विना सामान्य से १२१ प्रकृतियाँ होती है, परन्तु प्रतिपद्यमान की अपेक्षा आदि के चार गुणस्थान होते है। उस अपेक्षा से आहारकद्विक के विना सामान्य से ११९ प्रकृतियाँ होती है और मिथ्यात्वादि गुणस्थानो मे अनुक्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७ और ८१ प्रकृतियो का उदय समझना चाहिए।

तेजोलेश्या—इसमे पहले से लेकर अप्रमत्त तक सात गुणस्थान होते है। इसमे सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, नरकत्रिक, आतप नाम और जिन नाम इन ग्यारह प्रकृतियो के विना सामान्य से १११, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय के सिवाय मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०७, मिथ्यात्व के विना सास्वादन मे १०६, अनन्तानुवन्धीचतुष्क, स्थावर नाम, एकेन्द्रिय और आनुपूर्वीत्रिक—इन नौ प्रकृतियो के सिवाय और मिश्र मोहनीय के मिलाने पर मिश्र गुणस्थान मे ९८, आनुपूर्वीत्रिक और सम्यक्त्व मोहनीय का प्रक्षेप करने और मिश्र मोहनीय को कम करने पर अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे १०१, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, आनुपूर्वीत्रिक, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायुष, दुर्भग नाम, अनादेय और अयश इन चौदह प्रकृतियो के विना देशविरति गुणस्थान मे ८७, प्रमत्त गुणस्थान मे ८१ और अप्रमत्त मे ७६ प्रकृतियाँ होती है।

पद्मलेश्या—इसमे सात गुणस्थान होते है। इसमे स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, नरकत्रिक, जिन नाम और आतप इन तेरह प्रकृतियो के विना सामान्य से १०९ प्रकृतियाँ उदय मे होती है। सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक के देवो के पद्मलेश्या होती है और वे मरकर एकेन्द्रिय मे नही जाते है, तथा नरक मे पहली तीन लेश्याएं होती है और जिन नाम का उदय शुक्ललेश्या वाले को ही होता है। अतएव स्थावरचतुष्क आदि तेरह प्रकृतियो का विच्छेद कहा है। आहारकद्विक, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय—इन चार प्रकृतियो के विना मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०५. सास्वादन मे मिथ्यात्व के विना १०४, अनन्तानुवन्धीचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक इन सात प्रकृतियो के कम करने और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर ९८ प्रकृतियाँ मिश्र गुणस्थान में होती है। उनमे से मिश्रमोहनीय को कम करके और आनुपूर्वीत्रिक तथा

सम्यक्त्व मोहनीय को मिलाने से १०१ प्रकृतियाँ अविरति गुणस्थान मे होती है। उनमे से अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, आनुपूर्वीत्रिक, देवगति, देवायुष, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन चौदह प्रकृतियो के विना देश-विरति गुणस्थान मे ८७, प्रमत्त मे ८१ और अप्रमत्त मे ७६ प्रकृतियाँ होती है।

शुक्ललेश्या—इसमे तेरह गुणस्थान है। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, नरकत्रिक और आतप नाम— इन बारह प्रकृतियो के विना सामान्य से ११० प्रकृतियाँ होती है। आहारकद्विक, सम्यक्त्व, मिश्र और जिन नाम इन पाँच प्रकृतियो के विना मिथ्यात्व मे १०५ प्रकृतियाँ होती है। मिथ्यात्व के विना सास्वादन मे १०४, उनमे से अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक को कम करके मिश्र मोहनीय को मिलाने से मिश्र गुणस्थान मे ९८, अविरति गुणस्थान मे १०१ और देशविरति मे ८७ प्रकृतियाँ होती है। आगे के गुण-स्थानो मे सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

भव्य—यहाँ चौदह गुणस्थान होते है और उनमे सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अभव्य—इसमे सिर्फ पहला गुणस्थान होता है। सम्यक्त्व, मिश्र, जिन नाम और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियो के विना सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियाँ होती है।

उपशम सम्यक्त्व—इस मार्गणा मे चौथे से लेकर ग्यारहवे तक आठ गुण-स्थान होते है। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, जिन नाम, आहारकद्विक, आतप नाम और आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेईस प्रकृतियो के विना सामान्य से और अविरति गुणस्थान मे ९९ प्रकृतियां होती है। अन्य आचार्य के मत से उपशम सम्यग्दृष्टि आयु पूर्ण होने से मर कर अनुत्तर देवलोक तक उत्पन्न होता है, तो उस समय उसे अविरत गुणस्थान मे देवानुपूर्वी का उदय होता है, इस अपेक्षा सामान्य से और अविरति गुणस्थान मे १०० प्रकृतियाँ होती है। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकायुष, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन चौदह प्रकृतियो के विना देश-

विरति गुणस्थान मे ८५ या ८६ प्रकृतियाँ होती है। तिर्यचगति, तिर्यचायु, नीच गोत्र, उद्योत और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ प्रकृतियो के विना प्रमत्त गुणस्थान मे ७८, स्त्यानर्द्धित्रिक के विना अप्रमत्त गुणस्थान मे ७५ और अन्तिम तीन सघयण के विना अपूर्वकरण मे ७२ प्रकृतियाँ होती है और उसके वाद आगे के गुणस्थानो मे अनुक्रम से ६६, ६०, ५६ प्रकृतियाँ उदय मे होती है।

क्षायिक सम्यक्त्व—यहाँ चौथे से लेकर चौदहवे तक ग्यारह गुणस्थान होते है। इसमे जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, अनन्तानुवन्धीचतुष्क, आतप, सम्यक्त्व, मिश्र, मिथ्यात्व इन १६ प्रकृतियो के विना सामान्य से १०६, आहारकद्विक और जिन नाम इन तीन प्रकृतियो के विना अविरति गुणस्थान मे १०३, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियाष्टक, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यचत्रिक, दुर्भग, अनादेय, अयश और उद्योत—इन २० प्रकृतियो के विना देशविरति गुणस्थान मे ८३ प्रकृतियाँ होती है। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क व नीच गोत्र को कम करके आहारकद्विक के मिलाने पर प्रमत्त गुणस्थान मे ८० प्रकृतियाँ होती है। स्त्यानर्द्धित्रिक, आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियो के विना अप्रमत्त गुणस्थान मे ७५, अपूर्वकरण मे अन्तिम तीन सहनन कम करने से ७२ तथा आगे गुणस्थानो मे उदय के समान उदय समझना चाहिए।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इसमे चौथे से लेकर सातवे तक चार गुणस्थान होते है। मिथ्यात्व, मिश्र, जिन नाम, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, आतप और अनन्तानुवन्धीचतुष्क इन सोलह प्रकृतियो के विना सामान्य से १०६, आहारकद्विक के विना अविरति गुणस्थान मे १०४, देशविरति गुणस्थान मे ८७, प्रमत्त मे ८१ और अप्रमत्त मे ७६ प्रकृतियो का उदय समझना चाहिए।

मिश्र सम्यक्त्व—इसमे एक तीसरा मिश्र गुणस्थान होता है और उसमे १०० प्रकृतियो का उदय होता है।

सास्वादन—यहाँ सिर्फ दूसरा सास्वादन गुणस्थान होता है और उसमे १११ प्रकृतियो का उदय समझना चाहिए।

मिथ्यात्व—इसमे प्रथम गुणस्थान होता है और उसमे आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र इन पाँच प्रकृतियो के विना ११७ प्रकृतियाँ होती है।

संज्ञी—इसमे चौदह गुणस्थान होते है। द्रव्यमन के सम्बन्ध से केवल-ज्ञानी को सज्ञी कहा है, अत उसे चौदह गुणस्थान होते हैं। परन्तु यदि मति-ज्ञानावरण के क्षयोपशमजन्य मनन परिणाम रूप भावमन के सम्बन्ध से सज्ञी कहे तो इस मार्गणा मे बारह गुणस्थान होते है। इसमे स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और जातिचतुष्क—इन आठ प्रकृतियो के बिना सामान्य से ११४ प्रकृतियाँ होती है। यदि भावमन के सम्बन्ध से सज्ञी कहे तो सज्ञी मार्गणा मे जिन नाम का उदय न होने से उसे कम करने पर ११३ प्रकृतियाँ होती है। आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियो के बिना मिथ्यात्व मे १०९, अपर्याप्त नाम, मिथ्यात्व, नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियो के बिना सास्वादन मे १०६ प्रकृतियाँ होती हैं। अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक—इन सात प्रकृतियो के सिवाय और मिश्र मोह-नीय के मिलने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ होती है और अविरति आदि आगे के गुणस्थानो मे सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

असंज्ञी—इसमे आदि के दो गुणस्थान होते है। वैक्रियाष्टक, जिन नाम, आहारकद्विक, सम्यक्त्व, मिश्र मोहनीय, उच्च गोत्र, स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन सोलह प्रकृतियो के बिना सामान्य से १०६ प्रकृतियाँ होती है। उसमे से सूक्ष्मत्रिक, आतप, उद्योत, मनुष्यत्रिक, मिथ्यात्व, पराघात, उच्छ्वास, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति—इन पन्द्रह प्रकृ-तियो के बिना सास्वादन मे ९१ प्रकृतियाँ होती है। सप्तति मे उदय स्थानक मे असज्ञी को छह सघयण और छह सँस्थान के भागे दिये है, इसलिए उसे छह सघयण और छह सस्थान तथा सुभग, आदेय और शुभ विहायोगति का भी उदय होता है।

आहारक—इसमे तेरह गुणस्थान होते है। आनुपूर्वीचतुष्क के बिना सामान्य से ११८, आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियो के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११३, सूक्ष्म-त्रिक, आतप और मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियो के सिवाय सास्वादन मे १०८, उनमे से अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्थावर नाम और जातिचतुष्क—इन नौ प्रकृतियो को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान मे

१००, उनमे से मिश्र मोहनीय को निकाल कर वदले मे सम्यक्त्व मोहनीय को जोडने से अविरति गुणस्थान मे १००, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायु, नरकगति, नरकायु, दुर्भग, अनादेय ओर अयश—इन तेरह प्रकृतियो के विना देशविरति गुणस्थान मे ८७ प्रकृतियाँ होती है। आगे के गुणस्थानो मे सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अनाहारक—इस मार्गणा मे १, २, ४, १३ और १४—ये पॉच गुणस्थान होते है। औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, सहननषट्क, सस्थानषट्क, विहायोगतिद्विक, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रत्येक, साधारण, सुस्वर, दु स्वर, मिश्र मोहनीय और निद्रापचक—इन ३५ प्रकृतियो के विना सामान्य से ८७, जिन नाम और सम्यक्त्व मोहनीय—इन दो प्रकृतियो के विना मिथ्यात्व मे ८५, सूक्ष्म, अपर्याप्त, मिथ्यात्व और नरकत्रिक—इन छह प्रकृतियो के सिवाय सास्वादन मे ७९ प्रकृतियाँ होती है। मिश्र गुणस्थान मे कोई अनाहारक नही होता है। अनन्तानुवन्धीचतुष्क, स्थावर और जातिचतुष्क—इन नौ प्रकृतियो के विना और सम्यक्त्व मोहनीय तथा नरकत्रिक इन चार प्रकृतियो को मिलाने पर अविरति गुणस्थान मे ७४ प्रकृतियाँ होती है। वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, जिन नाम, त्रसत्रिक, सुभग, आदेय, यश, मनुष्यायु, वेदनीयद्विक और उच्च गोत्र—ये पच्चीस प्रकृतियाँ तेरहवे सयोगि केवलि गुणस्थान मे केवलि समुद्घात करने पर तीसरे, चौथे और पाँचवे समय मे उदय होती है। त्रसत्रिक, मनुष्यगति, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, जिन नाम, साता अथवा असाता मे से कोई एक वेदनीय, सुभग, आदेय, यश और पचेन्द्रिय जाति—ये वारह प्रकृतियाँ चौदहवे गुणस्थान मे उदय मे होती है। यहाँ सर्वत्र उदय मे उत्तर वैक्रिय की विवक्षा नही की है। सिद्धान्त मे पृथ्वी, अप् और वनस्पति को सास्वादन गुणस्थान नही वताया है, सास्वादन गुणस्थान वाले को मतिश्रुत ज्ञानी कहा है। विभगज्ञानी को अवधिदर्शन कहा है और वैक्रियमिश्र तथा आहारकमिश्र मे औदारिकमिश्र कहा है, परन्तु वह कर्मग्रन्थ मे विवक्षित नही है।

उदीरणास्वामित्व

उदय समय से लेकर एक आवलिका तक के काल को उदयावलिका कहते है। उदयावलिका मे प्रविष्ट कर्म पुद्गल को कोई भी करण लागू नही पडता है। उदयावलिका के बाहर रहे हुए कर्म पुद्गल को उदयावलिका के कर्म पुद्गल के साथ मिलाकर भोगने को उदीरणा कहते है। जिस जाति के कर्मों का उदय हो, उसी जाति के कर्मों की उदीरणा होती है। इसलिए सामान्य रीति से जिस मार्गणा मे जिस गुणस्थान मे जितनी कर्म प्रकृतियो का उदय होता है, उस मार्गणा मे उस गुणस्थान मे उतनी प्रकृतियो की उदीरणा भी होती है, परन्तु इतना विशेष है कि जिस प्रकृति को भोगते हुए उसकी सत्ता मे मात्र एक आवलिका काल मे भोगने योग्य कर्मपुद्गल शेष रहे, तब उसकी उदीरणा नही होती है, अर्थात् उदयावलिका मे प्रविष्ट कर्म उदीरणा योग्य नही रहता तथा शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद जबतक इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण न हो, तबतक पाँच निद्राओ की उदीरणा नही होती, उदय रहता है। छठे गुणस्थान से आगे मनुष्यायु, साता और असाता वेदनीय कर्म की तद्योग्य अध्यवसाय के अभाव मे उदीरणा नही होती है, उदय ही होता है तथा चौदहवे गुणस्थान मे योग के अभाव मे किसी भी प्रकृति की उदीरणा नही होती है, सिर्फ उदय ही होता है।

सत्तास्वामित्व

उदय-उदीरणा-स्वामित्व के अनन्तर ६२ उत्तर मार्गणाओ मे प्रकृतियो की सत्ता का कथन करते है। सत्ताधिकार मे १४८ प्रकृतियाँ विवक्षित है।

नरकगति और देवगति—इन दोनो मार्गणाओ मे एक दूसरे के देवायु और नरकायु के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है। क्योकि नरकगति मे देवायु की और देवगति मे नरकायु की सत्ता नही होती है। मिथ्यात्व गुणस्थान मे देवगति मे जिन नाम की सत्ता नही होती है, परन्तु नरकगति मे होती है, इसलिए देवगति मे मिथ्यात्व गुणस्थान मे १४६ और नरकगति मे १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे जिन नाम के सिवाय १४६ प्रकृतियो की सत्ता होती है। अविरति गुणस्थान मे क्षायिक

सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुवन्धीचतुष्क, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और दो आयु—इन नौ प्रकृतियो के विना १३९ प्रकृतियो की सत्ता होती है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के एक आयु के विना १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है। क्योकि नारको के देवायु और देवो के नरकायु सत्ता मे नही होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तिर्यचायु भी सत्ता मे नही होती है।

मनुष्यगति—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे १४८ प्रकृतियो की सत्ता होती है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान मे जिन नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे क्षायिक सम्यग्दृष्टि (अचरम शरीरी) चारित्रमोह के उपशमक को तिर्यचायु, नरकायु, अनन्तानुवन्धीचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक—इन नौ प्रकृतियो के विना १३९ प्रकृतियाँ सत्ता मे होती है और चरमशरीरी चारित्रमोह के उपशमक उपशम सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुवन्धीचतुष्क की विसयोजना करने के वाद तीन आयु के सिवाय १४१ प्रकृतियाँ सत्ता मे होती है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि भविष्य मे क्षपक-श्रेणि का प्रारम्भ करने वाले चरम शरीरी को नरकायु, तिर्यचायु और देवायु—इन तीन प्रकृतियो के सिवाय १४५ की सत्ता होती है और अनन्तानुबन्धी-चतुष्क तथा दर्शनमोहनीयत्रिक—इन सात प्रकृतियो का क्षय करने के वाद १३८ प्रकृतियो की सत्ता होती है। भविष्य मे उपशम श्रेणि के प्रारम्भक उपशम सम्यग्दृष्टि (अचरम शरीरी) को नरक और तिर्यच आयु के सिवाय १४६ प्रकृतियो की और अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसयोजना करने के बाद १४२ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

देशविरति, प्रमत्त और अप्रमत्त—इन तीन गुणस्थानो मे उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि का आश्रय लेने वाले के चौथे गुणस्थान जैसी सत्ता होती है।

अपूर्वकरण गुणस्थान मे चारित्रमोह के उपशमक उपशम सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुवन्धीचतुष्क, तिर्यचायु और नरकायु—इन छह प्रकृतियो के विना १४२ प्रकृतियाँ सत्ता मे होती है। चारित्रमोह के उपशमक क्षायिक सम्यग्दृष्टि

के दर्शनसप्तक, नरकायु और तिर्यचायु के बिना १३६ प्रकृतियो की सत्ता होती है और क्षपक श्रेणि के पूर्व मे कहे गये अनुसार सत्ता होती है।

अनिवृत्यादि गुणस्थान मे दूसरे कर्मग्रन्थ मे कहे गये सत्ताधिकार के समान यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

तिर्यंचगति—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र गुणस्थान मे जिन नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है। अविरति गुणस्थान मे क्षायिक सम्यग्दृष्टि को दर्शनसप्तक, नरकायुष और मनुष्यायुष के सिवाय १३८ और उपशम सम्यग्दृष्टि तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को जिननाम के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

देशविरति गुणस्थान मे औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के जिन नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यच असख्यात वर्ष के आयुष वाला होता है और उसको देशविरति गुणस्थान नही होता है।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय—इन चार मार्गणाओ (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति) मे सामान्य से और मिथ्यात्व, सास्वादन गुणस्थान मे जिन नाम, देवायु और नरकायु के सिवाय १४५ प्रकृतियो की सत्ता होती है। परन्तु सास्वादन गुणस्थान मे आयु का वन्ध नही होने की अपेक्षा से मनुष्यायु के सिवाय १४४ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

पंचेन्द्रिय—इस मार्गणा मे मनुष्यगति के अनुसार सत्ता समझना चाहिए।

पृथ्वी, अप् और वनस्पति काय—इन तीन मार्गणाओ मे एकेन्द्रिय मार्गणा के समान सत्ता समझना चाहिए।

तेजस्काय और वायुकाय—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे जिन नाम, देव, मनुष्य और नरकायु—इन चार प्रकृतियो के बिना १४४ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

त्रसकाय—यहाँ मनुष्यगति प्रमाण सत्ता समझना चाहिए।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग—इन तीन मार्गणाओ मे मनुष्यगति मार्गणा की तरह तेरह गुणस्थान तक सत्ता समझना चाहिए।

तीन वेद, क्रोध, मान, माया—इनमे मनुष्यगतिमार्गणा की तरह नौ गुणस्थान तक सत्ता समझना चाहिये।

लोभ—यहाँ मनुष्यगति के समान दस गुणस्थान तक सत्ता समझना।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान—इन तीन मार्गणाओ मे मनुष्यगति-मार्गणा के समान चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

मनःपर्यवज्ञान—यहाँ सामान्य से तिर्यचायु और नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियो की सत्ता होती है और छठे गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक मनुष्यगति मार्गणा के समान सत्तास्वामित्व जानना चाहिए।

केवलज्ञान—यहाँ मनुष्यगति के समान अन्तिम दो गुणस्थानो मे कहा गया सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान—इनमे सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे १४८ और दूसरे, तीसरे गुणस्थान मे जिन नाम के बिना १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

सामायिक और छेदोपस्थानीय—इन दो मार्गणाओ मे सामान्य से १४८ प्रकृतियो की सत्ता होती है और इनमे छठे गुणस्थान से लेकर नौवे गुणस्थान तक मन पर्यवज्ञानमार्गणा के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

परिहारविशुद्धि—इसमे छठे और सातवे गुणस्थान मे कहे गये अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

सूक्ष्मसंपराय—इसमे सामान्य से तिर्यचायु और नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है अथवा अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसयोजना करने वाले को अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तिर्यचायुष और नरकायुष इन छह प्रकृतियो के सिवाय १४२ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

यथाख्यात—यहाँ ग्यारहवे से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगतिमार्गणा के समान समझना चाहिए।

देशविरति—यहाँ सामान्य से १४८ प्रकृतियाँ सत्ता मे होती है। इसमे एक पाँचवाँ गुणस्थान होता है और उसमे मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

अविरति—यहाँ पहले से चौथे गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगति के समान समझना चाहिए।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन—इन दोनो मार्गणाओ मे पहले से बारहवें गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगति के समान समझना चाहिए।

अवधिदर्शन—यहाँ अवधिज्ञान मार्गणा के अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

केवलदर्शन—केवलज्ञान मार्गणा के सदृश सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्या—तीन मार्गणाओ मे पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक मनुष्यगति के अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

तेज और पद्म लेश्या—पहले से सातवे गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

शुक्ललेश्या—पहले से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता समझना चाहिए।

भव्य—मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

अभव्य—सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे जिननाम, आहारक-चतुष्क, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय इस सात प्रकृतियो के बिना १४१ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

औपशमिक सम्यक्त्व—चौथे से ग्यारहवे गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता समझना चाहिए।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इसमे चौथे से सातवे गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता समझना चाहिए।

क्षायिक सम्यक्त्व—यहाँ अनन्तानुबंधीचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियो के बिना सामान्य से १४१ प्रकृतियो की सत्ता होती है और चौथे से चौदहवे गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

सास्वादन—यहाँ सामान्य से और दूसरे गुणस्थान मे जिन नाम के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

मिथ्यात्व – यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे १४८ प्रकृतियाँ सत्ता मे होती है।

संज्ञी—पहले से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता-स्वामित्व जानना चाहिए। इसमे केवलज्ञानी को द्रव्यमन के सम्बन्ध से सज्ञी कहा है, यदि भावमन की अपेक्षा सज्ञी कहा जाय तो बारह गुणस्थान होते है।

असंज्ञी—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान मे जिन नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियो की सत्ता होती है और सास्वादन गुणस्थान मे नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियो की सत्ता होती है, परन्तु यहाँ अपर्याप्तावस्था मे देवायु और मनुष्यायु का बंध करने वाला कोई सभव नही है, इसलिए उस अपेक्षा से १४४ प्रकृतियो की सत्ता होती है।

आहारक—पहले से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक मनुष्यगति मार्गणा के समान सत्तास्वामित्व जानना चाहिए।

अनाहारक—इस मार्गणा मे पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ ये पाँच गुणस्थान होते हैं और उनमे मनुष्यगति के समान सत्ता जानना चाहिए।

इस प्रकार उदय, उदीरणा और सत्तास्वामित्व का विवेचन पूर्ण हुआ।

विशेष—

अपनी निकटतम जानकारी के अनुसार मार्गणाओ मे उदय, उदीरणा एव सत्ता स्वामित्व का विवरण प्रस्तुत किया है। सभवत. कोई त्रुटि या अस्पप्टता रह गई हो तो विज्ञ पाठको से सानुरोध निवेदन है कि सशोधन कर सूचित करने की कृपा करे जिससे अपनी धारणा व त्रुटि का परिमार्जन कर सके। उनके सहकार एव मार्गदर्शन के लिये आभारी रहेगे।

—सम्पादक

मार्गणाओं में बन्ध, उदय और सत्ता-स्वामित्व विषयक दिगम्बर कर्मसाहित्य का मन्तव्य

तृतीय कर्मग्रथ मे गुणस्थानो के आधार से मार्गणाओ मे वधस्वामित्व का कथन किया गया है। इसीप्रकार से गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे गाथा १०५ से १२१ तक मे भी किया गया हे तथा सामान्य से उसको जानने के लिए जिन वातों की जानकारी आवश्यक है, उनका सकेत भी गाथा ६४ से १०४ मे है।

गुणस्थानो के आधार से मार्गणाओ मे उदयस्वामित्व का विचार प्राचीन व नवीन तृतीय कर्मग्रन्थ मे नही है, वह भी गो० कर्मकाण्ड मे गा० २९० से ३३२ तक मे किया गया है तथा इसके लिए आवश्यक संकेत गाथा २६३ से २८९ तक मे सगृहीत है। इस उदयस्वामित्व प्रकरण में उदीरणास्वामित्व का विचार भी सम्मिलित है। इसी प्रकार मार्गणाओ मे सत्तास्वामित्व का विचार भी गो० कर्मकाण्ड मे है, किन्तु कर्मग्रन्थ मे नही। यह प्रकरण कर्मकाण्ड मे गाथा ३४६ से ३५६ तक है तथा इसके लिए सामान्य सकेत, गाथा ३३३ से ३४५ मे है।

कर्मशास्त्र के अध्येताओ को उक्त अश तुलनात्मक अध्ययन करने एव विषयज्ञान की हष्टि से उपयोगी होने से कतिपय आवश्यक अश उद्धृत किये जाते है। पूर्ण विवरण के लिए गो० कर्मकाण्ड के उक्त अँशो को देख लेना चाहिए।

बन्धस्वामित्व

गुणस्थानो पूर्वक मार्गणाओ मे वधस्वामित्व का विवेचन करने के लिए गुणस्थानो मे सामान्य से वन्धयोग्य, अवन्धयोग्य तथा वन्धविच्छिन्न होने वाली कर्मप्रकृतियो की सख्या को तीन गाथाओ द्वारा वतलाते है—

ध प्रकृतियों की संख्या

सत्तरसेकग्गसयं चउसत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी ।
बंधा णवट्ठवण्णा दुवीस सत्तारसेकोघे ।।१०३।।

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानो मे क्रमश ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १, इसप्रकार का बन्ध तेरहवे गुणस्थान तक ोता है। चौदहवे गुणस्थान मे बन्ध नही होता है। इसका अर्थ यह है कि ामान्य से वन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ है, उनमे से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे ीर्थकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियो का वन्ध नही होने से २०—३ = ११७ प्रकृतियाँ शेष रहती है। इसीप्रकार से द्वितीय आदि गुण-थानो मे भी समझना चाहिए कि जैसे पहले गुणस्थान मे व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ १६ है और ३ प्रकृतियाँ अबन्ध है तो १६+३=१९ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान े अवन्धरूप है, यानी १९ प्रकृतियो का बन्ध नही होता है। इसीप्रकार आगे के गुणस्थानो मे भी व्युच्छिन्न प्रकृतियो को घटाने से प्रत्येक गुणस्थान की बन्धसख्या निकल आती है।

अबन्ध प्रकृतियों की संख्या

तिय उणवीसं छत्तियतालं तेवण्ण सत्तवण्ण च ।
इगिदुगसट्ठी विरहिय सय तियउणवीससहिय वीससयं ।।१०४।।

मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानो मे क्रम से ३, १९, ४६, ४३, ५३, ५७, ६१, ६२, ९८, १०३, ११९, ११९, ११९ और १२० प्रकृतियाँ अबन्ध है। अर्थात् ऊपर लिखी गई सख्या के अनुसार प्रत्येक गुणस्थान मे कर्म प्रकृतियो का वन्ध नही होता है।

वन्धव्युच्छिन्न प्रकृतियों की संख्या

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क वन्धवोछिण्णा ।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ।।९४।।

मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानो मे क्रमश १६, २५, ० (शून्य)[1], १०, ४, ६, १, ३६ (२+३०+४), ५, १६, ०, ०, ०, १ प्रकृति व्युच्छिन्न[2] होती है ।

गुणस्थानो मे कर्मप्रकृतियो के वन्ध का सामान्य नियम इस प्रकार है—

> सम्मेव तित्थवन्धो आहारदुग पमादरहिदेसु ।
> मिस्सूणे आउस्स य मिच्छादिसु सेसवन्धोदु ॥९२॥

अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध होता है। आहारकद्विक का अप्रमत्त सयत गुणस्थान मे वन्ध होता है। मिश्र गुणस्थान मे आयु का वन्ध नही होता है तथा शेप प्रकृतियो का वन्ध मिथ्यादृष्टि आदि आदि गुणस्थानो मे अपने वन्ध की व्युच्छित्ति तक होता है।

मार्गणाओं में बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति

मार्गणाओ मे कर्म प्रकृतियो का वन्ध, अवन्ध और वन्ध व्युच्छित्ति— ये तीनो अवस्थाएं गुणस्थान के समान समझना चाहिए। लेकिन उनमे जो-जो विशेषता है, उसको गति आदि प्रत्येक मार्गणा की अपेक्षा क्रमश. स्पष्ट करते है।

गतिमार्गणा

> ओघे वा आदेसे णारयमिच्छम्हि चारि वोच्छिण्णा ।
> उवरिम वारस सुरचउ सुराउ आहारयमवन्धा ॥१०५॥

मार्गणाओ मे व्युच्छित्ति आदि गुणस्थानो के समान समझना, लेकिन मिथ्यात्व गुणस्थान मे व्युच्छिन्न होने वाली सोलह प्रकृतियो मे से नरकगति

---

१ किसी भी प्रकृति का वन्धविच्छेद नही ।

२ व्युच्छिन्न नाम है विछुडने का। जिस गुणस्थान मे कर्मो की व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियो की सख्या कही गई है, उसका अर्थ यह है कि उस गुणस्थान तक तो उस प्रकृति का सयोग रहता है, उसके आगे के गुणस्थान मे उसका वन्ध, उदय और सत्ता नही रहती है।

मे मिथ्यात्व, हुड संस्थान, नपुंसक वेद, सेवार्त संहनन इन चार की व्युच्छित्ति होती है तथा इनके अतिरिक्त शेष बारह प्रकृतिया तथा देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपाग, देवायु, आहारक शरीर, आहारक अगोपाग—ये सब १९ प्रकृतियाँ अबन्ध है। अर्थात् नरकगति के मिथ्यात्व गुणस्थान मे १९ प्रकृतियो का बन्ध नही होता । अतएव सामान्य से बन्धयोग्य १०१ प्रकृतिया है।

घम्मे तित्थं बन्धदि वसामेघाण पुण्णगो चेव ।
छट्ठोत्ति य मणुवाऊ चरिमे मिच्छेव तिरियाऊ ॥१०६॥

घर्मा (प्रथम नरक) मे पर्याप्त, अपर्याप्त—दोनो अवस्थाओ मे तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है। दूसरे, तीसरे (वशा, मेघा) नरक मे पर्याप्त जीव को तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है। छठे (मघवी) नरक तक मनुष्यायु का बन्ध होता है। सातवे (माघवी) नरक मे मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही तिर्यचायु का बन्ध होता है।

मिस्साविरदे उच्च मणुवदुगं सत्तमे हवे वधो ।
मिच्छा सासणसम्मा मणुवदुगुच्च ण बंधंति ॥१०७॥

सातवे नरक मे मिश्र और अविरति गुणस्थान मे ही उच्च गोत्र, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी इन तीन प्रकृतियो का बंध है। मिथ्यात्व व सास्वादन गुणस्थान वाले जीव वहाँ पर उच्च गोत्र और मनुष्यद्विक—इन तीन प्रकृतियो को नही बाँधते है।

तिरिये ओघो तित्थाहारूणो अविरदे छिदी चउरो ।
उवरिमछण्ड च छिदी सासणसम्मे हवे णियमा ॥१०८॥

तिर्यचगति मे भी व्युच्छित्ति आदि गुणस्थानो की तरह ही समझना। परन्तु इतनी विशेषता है कि तीर्थङ्कर, आहारक शरीर, आहारक अगोपाग—इन तीन प्रकृतियो का बन्ध ही नही होता है। अत सामान्य से ११७ प्रकृतियाँ तिर्यच-गति मे बन्धयोग्य है। चौथे अविरति गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि ४ की ही व्युच्छित्ति होती है तथा शेष रही मनुष्यगति योग्य वज्र-

ऋषभनाराच सहनन आदि छह प्रकृतियो की व्युच्छित्ति दूसरे सास्वादन गुण-स्थान मे हो जाती है। क्योकि यहा पर तिर्यंच मनुष्यगति सम्बन्धी प्रकृतियो का मिथ्यादिक मे बन्ध नही होता है।

उक्त कथन तिर्यच के सामान्य तिर्यंच (सब भेदो का समुदाय रूप), पचेन्द्रिय तिर्यच, पर्याप्त तिर्यंच, स्त्रीवेद तिर्यच और लब्ध्यपर्याप्त तिर्यच—इन पाच भेदो मे से लब्ध्यपर्याप्त भेद को छोड कर शेष चार प्रकार के तिर्यचो की अपेक्षा समझना चाहिए। लब्ध्यपर्याप्त तिर्यचो के तीर्थङ्कर नाम और आहारक शरीर, आहारक अगोपाग—इन तीन प्रकृतियो के साथ निम्न-लिखित—

सुरणिरयाउ अपुण्णे वेगुव्वियछक्कमवि णत्थि ॥१०६॥

देवायु, नरकायु और वैक्रियपट्क—देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय-अगोपाग—इन आठ प्रकृतियो का भी वन्ध नही होता है।

तिरियेव णरे णवरि हु तित्थाहारं च अत्थि एमेव ॥११०॥

मनुष्यगति मे वन्धव्युच्छित्ति वगैरह तिर्यचगति के समान समझना चाहिए, लेकिन इतनी विशेषता है कि मनुष्यगति मे तीर्थङ्कर और आहारक द्विक—आहारक शरीर, आहारक अगोपाग—इन तीन का भी वन्ध होने से १२० प्रकृतियाँ वन्धयोग्य है। मनुष्यगति मे गुणस्थान १४ होते है, अत गुणस्थानो की तरह मनुष्यगति मे भी बन्धविच्छेद समझना चाहिए।

मनुष्यगति मे उक्त प्रकृति वन्ध व विच्छेद सामान्य से वताया है, किन्तु लब्धि-अपर्याप्त मनुष्य के वन्ध आदि तिर्यच लब्धि-अपर्याप्त के समान समझना चाहिए। अर्थात् लब्धि-अपर्याप्त मनुष्य के भी १०९ प्रकृतियाँ वन्धयोग्य हैं।

णिरयेव होदि देवे आईसाणोत्ति सत्त वाम छिदी।
सोलस चेव अवन्धा भवणतिए णत्थि तित्थयरं ॥१११॥

देवगति में कर्म प्रकृतियो का वन्धविच्छेद आदि नरकगति के समान

समझना चाहिए। परन्तु इतनी विशेषता है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे ईशान स्वर्ग तक पहले गुणस्थान की सोलह प्रकृतियो मे से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियो की ही व्युच्छित्ति होती है। शेष रही हुई सूक्ष्मादि नौ तथा देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपाग, देवायु, आहारक शरीर, आहारक अगोपाग—ये ७ कुल सोलह अवन्धरूप है। इसलिए यहाॅ बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १०४ है। भवनवासी, व्यतर और ज्योतिषी देवो मे तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध नही होने से १०३ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य है।

इन्द्रिय व काय मार्गणा

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु ससाणो देहे।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥११२॥

एकेन्द्रिय और विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) मे लब्धि-अपर्याप्त अवस्था की तरह बन्धयोग्य १०९ प्रकृतियाॅ समझना चाहिए। क्योकि अपर्याप्त अवस्था मे तीर्थङ्कर, आहारकद्विक, देवायु, नरकायु और वैक्रिय-षट्क—इन ११ प्रकृतियों का बन्ध नही होता है। एकेन्द्रिय एव विकलत्रय के पहला और दूसरा ये दो गुणस्थान होते है। इनमे से पहले गुणस्थान मे बन्धव्युच्छित्ति १५ प्रकृतियो की होती है। क्योकि यद्यपि पहले गुणस्थान मे १६ प्रकृतियो का बन्धविच्छेद कहा गया है, परन्तु यहाॅ पर उनमे से नरक-द्विक और नरकायु छूट जाती है तथा मनुष्यायु और तिर्यचायु बढ जाती है। अत. १५ का ही विच्छेद होता है। मनुष्यायु और तिर्यचायु के बन्धविच्छेद को पहले गुणस्थान मे कहने का कारण यह है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय मे उत्पन्न हुआ जीव सास्वादन गुणस्थान मे शरीर पर्याप्ति को पूर्ण नही कर सकता, क्योकि सास्वादन गुणस्थान का काल अल्प है और निर्वृत्ति अपर्याप्त अवस्था का काल अधिक। इस कारण सास्वादन गुणस्थान मे मनुष्यायु व तिर्यचायु का बन्ध नही होता है और प्रथम गुणस्थान मे ही बन्ध और विच्छेद होता है।

पंचेन्दियेसु ओघं एयक्खे वा वणप्फदीयंते।
मणुवदुगं मणुवाऊ उच्चं ण हि तेउ वाउम्हि ॥११

पचेन्द्रिय जीवो के व्युच्छित्ति आदि गुणस्थान की तरह समझना चाहिए। कायमार्गणा मे पृथ्वीकाय आदि वनस्पतिकाय पर्यन्त मे एकेन्द्रिय की तरह व्युच्छित्ति आदि जानना। विशेषता यह है कि तेजकाय तथा वायुकाय मे मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु और उच्च गोत्र—इन चार प्रकृतियो का वन्ध नही होता है और गुणस्थान एक मिथ्यादृष्टि ही है।

योगमार्गणा

ओघं तस मणवयणे ओराले मणुवगइभगो ॥११५॥

त्रसकाय मे वन्ध-विच्छेद आदि गुणस्थानो की तरह समझना चाहिए। योगमार्गणा मे मनोयोग तथा वचनयोग की रचना भी गुणस्थानो की तरह है तथा औदारिक काययोग मे वन्ध-विच्छेद आदि मनुष्यगति के समान है।

ओराले वा मिस्से ण सुरणिरयाउहारणिरयदुगं।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि ॥११६॥

औदारिकमिश्र काययोग मे औदारिक काययोग की तरह वन्ध-विच्छेद आदि है, लेकिन इतनी विशेषता है कि देवायु, नरकायु, आहारक शरीर, आहारक अगोपाग, नरकगति, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियो का वन्ध नही होता है, अर्थात् ११४ प्रकृतियो का ही वन्ध होता है। इनमे भी मिथ्यात्व और सास्वादन—इन दो गुणस्थानो मे देवचतुष्क और तीर्थङ्कर नाम—इन पॉच प्रकृतियो का वन्ध नही होता, किन्तु चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे इनका वन्ध होता है।

पण्णारसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो।
उवरिमपणसट्ठीवि य एक्कं साद सजोगिम्हि ॥११७॥

औदारिकमिश्र काययोग मे मिथ्यात्व और सास्वादन इन दो गुणस्थानो मे १५ व २९ प्रकृतियो का वन्ध-विच्छेद क्रम से जानना चाहिए। चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे ऊपर की चार तथा अन्य ६५—कुल मिलाकर ६९ प्रकृतियो का वन्धविच्छेद होता है। तेरहवे सयोगि केवली गुणस्थान मे सिर्फ एक सातावेदनीय की व्युच्छित्ति होती है।

देवे वा वेगुव्वे मिस्से णरतिरियआउगं णत्थि ।
छट्ठगुणंवाहरे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ ।।११८।।

वैक्रिय काययोग मे देवगति के समान वधविच्छेद आदि समझना चाहिए। वैक्रियमिश्र काययोग मे सौधर्म-ऐशान सम्वन्धी अपर्याप्त देवो के समान वध-व्युच्छित्ति है, किन्तु इस मिश्र मे मनुष्यायु और तिर्यचायु का वन्ध नही होता है। आहारक काययोग मे छटे गुणस्थान जैसा वन्धविच्छेद आदि होता है। आहारक मिश्रयोग मे देवायु का वन्ध नही होता है ।

कम्मे उरालमिस्सं वा णाउदुगपि णव छिदी अयदे ।

कार्मण काययोग मे वन्धविच्छेद आदि औदारिकमिश्र काययोग के सदृश है, लेकिन विग्रहगति मे आयु का वन्ध न होने से मनुष्यायु तथा तिर्यचायु—इन दो का भी वन्ध नही होता है और चौथे गुणस्थान मे नौ प्रकृतियो की व्युच्छित्ति होती है ।

वेद से आहारक मार्गणा पर्यन्त

वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघ तु ।।११९।।
णवरि य सव्वुवसम्मे णरसुरआऊणि णत्थि णियमेण ।
मिच्छस्संतिम णवयं वारं ण हि तेउपम्मेसु ।।१२०।।
सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमवारसं च ण व अत्थि ।
कम्मेव अणाहारे बंधस्संतो अणंतो य ।।१२१।।

वेदमार्गणा से लेकर आहारकमार्गणा तक का कथन गुणस्थानो के साधारण कथन जैसा समझना चाहिए ।

लेकिन सम्यक्त्वमार्गणा तथा लेश्यामार्गणा की शुभ लेश्याओ मे और आहारमार्गणा की कुछ विशेषता है कि—

सम्यक्त्वमार्गणा मे सभी, अर्थात् दोनो ही उपशम सम्यक्त्वी जीवो के मनुष्यायु और देवायु का वन्ध नही होता। लेश्यामार्गणा मे तेजोलेश्या वाले के मिथ्यात्व गुणस्थान की अन्त की नौ तथा पद्मलेश्या वाले के मिथ्यात्व गुणस्थान की अन्त की वारह प्रकृतियो का वध नही होता है। शुक्ललेश्या

वाले के गतात्रचतुष्क (तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, तिर्यञ्चायु, उद्योत) और मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त की १२ कुल मिलाकर १६ प्रकृतियो का वध नही होता है। आहारमार्गणा मे अनाहारक अवस्था मे कार्मणयोग जैसा वन्धविच्छेद आदि समझना चाहिए।

उदय एवं उदीरणा-स्वामित्व

मार्गणाओ मे उदय और उदीरणा-स्वामित्व का कथन करने के पूर्व निम्नाकित गाथाओ मे सामान्य नियमो को बतलाते है—

गुणस्थानों में उदय प्रकृतियां

> सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं सगिगिसीदि छदुसदरी।
> छावट्ठि सट्ठि णवसगवण्णास दुदालवारुदया ॥२७६॥

मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानो मे क्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२, १२ प्रकृतियो का उदय होता है।

अनुदय प्रकृतियां[1]

> पंचेक्कारसवावीसट्ठारसपंचतीस इगिछादालं।
> पण्णं छप्पण्णं वितिपणसट्ठि असीदि दुगुणपणवण्णं ॥२७७॥

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानो मे क्रम मे ५, ११, २२, १८, ३५, ४१, ४६, ५०, ५६, ६२, ६३, ६५, ८०, ११० प्रकृतियाँ अनुदय रूप है।

उदयविच्छिन्न प्रकृतियां

> पण णव इगि सत्तरसं अड पंच च चउर छक्क छच्चेव।
> इगिदुग सोलस तीसं वारस उदये अजोगंता ॥२६४॥

मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानो मे क्रमश. ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३० और १२ प्रकृतियो का उदयविच्छेद होता है।

---

१ जिन प्रकृतियो का उदय नही होता है, उन्हे अनुदय कहते है।

गदिआणुआउउदओ सपदे भूपुण्णवादरे ताओ ।
उच्चुदओ णरदेवे थीणतिगुदओ णरे तिरिये ।।२८५।।

किसी विवक्षित भव के पूर्व समय मे ही उस विवक्षित भव के योग्य गति, आनुपूर्वी और आयु का उदय होता है। आतप नामकर्म का उदय वादर पर्याप्त पृथ्वीकाय जीवो को ही होता है। उच्च गोत्र का उदय मनुष्य और देवो को ही होता है और स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओ का उदय मनुष्य और तिर्यचो के होता है।

स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओ के उदय का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

संखाउगणरतिरिए इन्दियपज्जत्तगादु थीणतिय ।
जोग्गमुदेदुं वज्जिय आहारविगुव्वणुट्ठवगे ।।२८६।।

सख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यचो के ही इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण होने के वाद स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओ का उदय हुआ करता है। परन्तु आहारक ऋद्धि और वैक्रिय ऋद्धि के धारक मनुष्यो को इनका उदय नही होता है।

अयदापुण्णे ण हि थी सढोवि य घम्मणारयं मुच्चा ।
थीसंढयदे कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णाणू ।।२८७।।

निर्वृ त्यपर्याप्तक के असयत गुणस्थान मे स्त्रीवेद का उदय नही है। इसी प्रकार प्रथम नरक घर्मा (रत्नप्रभा) के सिवाय अन्य तीन गतियो की चतुर्थ गुणस्थानवर्ती निर्वृ त्यपर्याप्त अवस्था मे नपु सकवेद का भी उदय नही होता है। इसीकारण से स्त्रीवेद वाले तथा नपु सकवेद वाले असयत के क्रम से चारो आनुपूर्वी तथा नरक के विना अन्त की तीन आनुपूर्वी प्रकृतियो का उदय नही होता है।

इगिविगलथावरचऊ तिरिए अपुण्णो णरेवि संघडणं ।
ओरालदु णरतिरिए वेगुव्वदु देवणेरयिए ।।२८८।।

एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय आदि विकलत्रय और स्थावर आदि चार प्रकृतियो का उदय तिर्यच के होने योग्य है। अपर्याप्त प्रकृति तिर्यच व मनुष्य के भी उदय होने योग्य है। वज्रऋषभनाराच आदि छह सहनन और औदारिक शरीर युगल नामकर्म (औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग) मनुष्य व तिर्यच के उदय होने योग्य है। वैक्रिय शरीर व वैक्रिय अगोपाग ये दो प्रकृतियाँ देव व नारको के उदययोग्य है।

तेउतिगूणतिरिक्खेसुज्जोवो वादरेसु पुण्णेसु।
सेसाणं पयडीणं ओघं वा होदि उदओ दु ॥२८९॥

तेजस्कायिक, वायुकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक - इन तीनों को छोडकर अन्य वादर पर्याप्तक तिर्यचो के उद्योत प्रकृति का उदय होता है। इनके अतिरिक्त अन्य शेष रही प्रकृतियो का उदय गुणस्थानो के अनुसार जानना चाहिए।

इस प्रकार से कर्म प्रकृतियो के उदय नियमो को कहकर अब मार्गणाओ मे उदय प्रकृतियो का कथन करते है।

गतिमार्गणा

थीणतिथीपुरिसूणा घादी णिरयाउणीचवेयणियं।
णामे सगवचिठाणं णिरयाणू णारयेसुदया ॥२९०॥

स्त्यानर्द्धि आदि तीन, स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन पाँच के सिवाय घाति कर्मो की ४२ प्रकृतियाँ, नरकायु, नीच गोत्र और साता असाता वेदनीय तथा नामकर्म मे से नारकियो के भाषा पर्याप्ति के स्थान मे होने वाली २९ प्रकृतियाँ तथा नरकगत्यानुपूर्वी ये ७६ प्रकृतियाँ नरकगति मे उदय होने योग्य है।

२९ प्रकृतियो के नाम इसप्रकार है—

वेगुव्वतेजथिरसुहदुग दुग्गदिहुंडणिमिण पंचिन्दो।
णिरयगदि दुब्भगागुरुतसवण्णचऊ य वचिठाणं ॥२९१॥

वैक्रिय, तैजस, स्थिर शुभ—इनका युगल और अप्रशस्त विहायोगति, हुडसस्थान, निर्माण, पचेन्द्री, नरकगति तथा दुर्भग-अगुरुलघु-त्रस-वर्ण

इनका चतुष्क, इसप्रकार कुल मिलाकर ये २९ प्रकृतियाँ नारक जीवो के वचनपर्याप्ति के स्थान पर उदय रूप होती है।

मिच्छमणंतं मिस्सं मिच्छादितिए कमा छिदी अयदे।
विदियकसाया दुब्भगणादेज्जदुगाउणिरयचउ ॥२९२॥

प्रथम नरक के मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थानो मे क्रम से मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीचतुष्क और सम्यग्मिथ्यात्व यह उदयविच्छिन्न होते है और चौथे गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, नरकायु, नरकद्विक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अगोपाग यह १३ प्रकृतिया उदय-विच्छिन्न होती हैं।

विदियादिसु छसु पुढविसु एव णवरि य असंजदट्ठाणे।
णत्थि णिरयाणुपुव्वी तिस्से मिच्छेव वोच्छदो ॥२९३॥

दूसरे से लेकर सातवे नरक तक पहले नरक के समान उदयादि जानना, किन्तु इतनी विशेषता है कि असयत गुणस्थान मे नरकानुपूर्वी का उदय नही है। इसकारण मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही मिथ्यात्व प्रकृति के साथ नरकानुपूर्वी का भी उदयविच्छेद हो जाता है।

तिरिये ओघो सुरणरणिरयाऊउच्च मणुदुहारदुगं।
वेगुव्वछक्कतित्थं णत्थि हु एमेव सामण्णे ॥२९४॥

तिर्यंचगति मे गुणस्थान के समान ही उदय जानना। परन्तु उनमे से देवायु, मनुष्यायु, नरकायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगतिद्विक, आहारकद्विक तथा वैक्रिय शरीर आदि ६, तथा तीर्थंकर—ये सव १५ प्रकृतियाँ उदययोग्य नही है। इस कारण १०७ प्रकृतियो का ही उदय हुआ करता है। इसीप्रकार तिर्यंच के पाच भेदो मे सामान्य तिर्यंचो मे भी जानना।

थावरदुगसाहारणताविगिविगलूण ताणि पंचक्खे।
इत्थिअपज्जत्तूणा ते पुण्णे उदयपयडीओ ॥२९५॥

उक्त सामान्य तिर्यंच की १०७ प्रकृतियो मे से स्थावर आदि २, साधारण, आतप, एकेन्द्री, विकलत्रय—इन आठ प्रकृतियो को घटा देने पर शेष वची

हुई ९९ प्रकृतियाँ पचेन्द्रिय तिर्यंच के उदययोग्य है और इन ९९ प्रकृतियो मे से भी स्त्रीवेद तथा अपर्याप्त इन दो को कम करने से शेष रही ९७ प्रकृतियाँ पर्याप्त तिर्यंच के उदययोग्य होती है।

तिर्यचनी के उक्त ९७ प्रकृतियो मे से पुरुषवेद एव नपु सकवेद को कम करके और स्त्रीवेद को मिलाने से ९६ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। उसमे भी चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे तिर्यचानुपूर्वी का उदय नही है। लब्ध्य-पर्याप्तक पचेन्द्री तिर्यच के उक्त ९६ प्रकृतियो मे स्त्रीवेद, स्त्यानर्द्धि आदि ३, परघातादि २, तथा पर्याप्त, उद्योत, स्वर का युगल, विहायोगतियुगल, यश कीर्ति, आदेय, समचतुरस्र आदि पाँच सस्थान, वज्रऋषभनाराच आदि पाँच सहनन, सुभग, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व—इन २७ प्रकृतियो को कम करके तथा अपर्याप्त व नपु सक वेद इन दो प्रकृतियो को मिलाने से कुल ७१ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

मणुवे ओघो थावरतिरियादावदुगएयवियलिंदि।
साहरणिदराउतियं वेगुव्वियछक्क परिहीणो ॥२९८॥

सामान्य मनुष्य के गुणस्थानो मे कही गई १२२ प्रकृतियो मे से स्थावर, तिर्यचगति आतप, इन तीनो का युगल और एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, साधारण, मनुष्यायु के अतिरिक्त अन्य तीन आयु और वैक्रिय शरीर आदि छह प्रकृतियो को कम करने से शेष उदययोग्य १०२ प्रकृतियाँ है।

मणुसोघं वा भोगे दुब्भगचउणीचसंढथीणतिय।
दुग्गदितित्थमपुण्णं संहदिसंठाणचरिमपण ॥३०२॥
हारदुहीणा एवं तिरिये मणुदुच्चगोदमणुवाउं।
अवणिय पक्खिव णीच तिरियदुतिरियाउउज्जोव ॥३०३॥

भोगभूमिक मनुष्यो मे सामान्य मनुष्य की १०२ प्रकृतियो मे से दुर्भग आदि चार, नीच गोत्र, नपु सकवेद, स्त्यानर्द्धि आदि तीन, अप्रशस्त विहायोगति, तीर्थङ्कर, अपर्याप्ति, वज्र नाराच आदि पाँच सहनन, न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पाँच सस्थान और आहारक शरीर का युगल इन २४ प्रकृतियो को कम कर देने पर शेष रही ७८ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। इसीप्रकार भोगभूमिक

तिर्यचो मे मनुष्यो की तरह ७८ प्रकृतियो मे मनुष्यगति आदि दो, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन चार प्रकृतियो को कम करने तथा नीच गोत्र, तिर्यंचगति आदि दो, तिर्यंचायु और उद्योत इन पाँच को मिलाने से ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है ।

भोगं व सुरे णरचउणराउवज्जूण सुरचउसुराउं ।
खिव देवे णेवित्थी इत्थिम्मि ण पुरिसवेदो य ॥३०४॥

सामान्य से देवो मे भी भोगभूमिक मनुष्य की तरह ७८ प्रकृतियो मे मनुष्यगति आदि चार, मनुष्यायु, वज्रऋषभनाराच सहनन इन छह प्रकृतियो को कम कर और देवगति आदि चार, देवायु इन पॉच को मिलाने से ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य है । परन्तु देवो मे स्त्रीवेद का उदय और देवागनाओ मे पुरुषवेद का उदय नही होता है । अत. देवो और देवागनाओ मे ७६ प्रकृतियाँ ही उदययोग्य समझना चाहिए ।

अविरदठाणं एक्कं अणुद्दिसादिसु सुरोघमेव हवे ।
भवणतिकप्पित्थीणं असंजदे णत्थि देवाणू ॥३०५॥

अनुदिश आदि विमानो मे एक असयत गुणस्थान ही है । अत देवो के अविरति गुणस्थान की तरह उदययोग्य ७० प्रकृतियाँ जानना । भवनत्रिक (भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी) देव, देवियो तथा कल्पवासिनी स्त्रियो के सामान्य देवो की तरह ७७ प्रकृतियो मे स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद के बिना ७६ प्रकृतियाँ उदय योग्य है, किन्तु चौथे अविरति गुणस्थान मे देवानुपूर्वी का उदय नही है, क्योकि सम्यग्दृष्टि मरण कर भवनत्रिक मे उत्पन्न नही होता । अर्थात् भवनत्रिक व कल्पवासिनी देवियो के चतुर्थ गुणस्थान मे व तीसरे मे भी उदययोग्य ६९ प्रकृतियाँ ही है ।

इन्द्रियमार्गणा

तिरियअपुण्णं वेगे परघादचउक्कपुण्णसाहरणं ।
एइन्दियजसथीणतिथावरजुगल च मिलिदव्व ॥३०६॥

रिणमंगोवंगतस सहदिपचक्खमेवमिह वियले।
अवणिय थावरजुगलं साहरणेयक्खमादावं ।।३०७।।
खिव तसदुग्गदिदुस्सरमगोवंगं सजादिसेवट्टं।
ओघं सयले साहरणिगिविगलादावथावरदुगूणं ।।३०८।।

एकेन्द्रिय मार्गणा मे तिर्यंच लब्धि-अपर्याप्त की ७१ प्रकृतियो मे पराघात आदि चार, पर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय जाति, यश कीर्ति, स्त्यानर्द्धित्रिक, स्थावर और सूक्ष्म कुल तेरह प्रकृतियाँ मिलाकर और अगोपाग, त्रस,सेवार्त सहनन, पचेन्द्री इन चार को कम करने से ८० प्रकृतियाँ उदययोग्य जानना। विकलत्रय मे एकेन्द्रिय के समान ८० प्रकृतियो मे से स्थावर युगल, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप इन पाँच प्रकृतियो को कम करके तथा त्रस, अप्रशस्तविहायोगति, दु स्वर, अगोपाग, अपनी-अपनी जाति, सेवार्त सहनन, इन छह प्रकृतियो को मिलाने से उदय योग्य ८१ प्रकृतियाँ है। पचेन्द्रिय मे गुणस्थान की तरह १२२ मे से साधारण, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, आतप, स्थावर युगल—इन आठ प्रकृतियो को कम करने पर ११४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

काय व योगमार्गणा

एयं वा पणकाये ण हि साहारणमिणं च आदावं।
दुसु तद्दुगमुज्जोवं कमेण चरिमम्हि आदावं ।।३०९।।

पृथ्वीकाय आदि पाँचो कायो मे एकेन्द्रिय की तरह ८० प्रकृतियो मे से एक साधारण प्रकृति के कम करने पर पृथ्वीकाय मे ७९ और साधारण व आतप प्रकृति के घटाने पर जलकाय मे उदययोग्य ७८ तथा तेजस्काय, वायुकाय, इन दोनो मे साधारण, आतप, उद्योत—इन तीन प्रकृतियो को घटाने पर ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। वनस्पतिकाय मे सिर्फ आतप प्रकृति के कम करने पर ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

ओघं तसे ण थावरदुगसाहरणेयतावमथ ओघं।
मणवयणसत्तगे ण हि ताविगिविगलं च थावराणुचओ ।।३१०।।

त्रसकाय मे गुणस्थान सामान्य की १२२ प्रकृतियो मे से स्थावर आदि

दो, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप—ये पाँच प्रकृतियाँ न होने से ११७ प्रकृतियाँ उदय होने योग्य है।

चार मनोयोग तथा तीन वचनयोग कुल सात योगो मे आतप, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, स्थावर आदि चार, चार आनुपूर्वी—ये १३ प्रकृतियाँ नही होती है, अत १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

अणुभयवचि वियलजुदा ओघमुराले ण हार देवाऊ।
वेगुव्वछक्कणरतिरियाणु अपज्जत्तणिरयाऊ ॥३११॥

अनुभय वचनयोग मे १०९ प्रकृतियो मे विकलत्रय मिलाकर ११२ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

औदारिक काय योग मे ११२ मे से आहारक शरीर युगल, देवायु, वैक्रिय षट्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी, अपर्याप्त, नरकायु—इन १३ प्रकृतियो के न होने से १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

तम्मिस्से पुण्णजुदा ण मिस्सथीणतियसरविहाय दुगं।
परघादचओ अयदे णादेज्जदुदुब्भगं ण सढिच्छी ॥३१२॥
साणे तेसिं छेदो वामे चत्तारि चोद्दसा साणे।
चउदालं वोछेदो अयदे जोगिम्हि छत्तीसं ॥३१३॥

औदारिकमिश्र काययोग मे पूर्व की १०९ प्रकृतियो मे पर्याप्त के मिलाने तथा मिश्रप्रकृति, स्यानर्द्धित्रिक, स्वरद्वय, विहायोगतियुगल, पराघातादि चार, बारह प्रकृतियो के न होने से ९८ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। चौथे अविरति गुणस्थान मे अनादेय युगल, दुर्भग, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद इनका उदय नही है, इन-इन प्रकृतियो की व्युच्छित्ति सास्वादन गुणस्थान मे ही जानना चाहिए। इसके मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व, सूक्ष्मत्रय ये चार प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती है। सास्वादन मे अनन्तानुवन्धी आदि १४, असयत मे अप्रत्याख्यानादि ४४ तथा सयोगि केवली मे ३६ प्रकृतियाँ का उदय विच्छेद जानना।

देवोघ वेगुव्वे ण सुराणु पक्खिवेज्ज णिरयाऊ।
निरयगदि हुंडसंढं दुग्गदि दुब्भगचओ णीचं ॥३१४॥

वैक्रिय काययोग मे देवगति के समान ७७ प्रकृतियो मे से देवानुपूर्वी कम करने और नरकायु, नरकगति, हु ड सस्थान, नपु सक वेद, अशुभ विहायोगति दुर्भग आदि चार, नीच गोत्र इन दस प्रकृतियो को मिलाने से ८६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हे ।

वेगुव्व वा मिस्से ण मिस्स परघादसरविहायदुग ।
साणे ण हुंडसढ दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥३१५॥
णिरयगदिआउणीचं ते खित्तयदेऽवणिज्ज थीवेद ।
छट्ठगुण वाहारे ण थीणतियसंढथीवेदं ॥३१६॥
दुग्गदिदुस्सरसंहदि ओरालदु चरिमपंचसंठाणं ।
ते तम्मिस्से सुस्सर परघाददुसत्थगदि हीणा ॥३१७॥

वैक्रियमिश्र काययोग मे वैक्रिय की ८६ प्रकृतियो मे से मिश्र मोहनीय, पराघात—स्वर—विहायोगति—इन तीन का युगल उदय रूप नही है, अर्थात् ये सात प्रकृतियाँ उदययोग्य न होने से ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। इनमे भी सास्वादन गुणस्थान मे हु ड सस्थान, नपु सकवेद, दुर्भग, अनादेय, अयश कीर्ति नरकगति, नरकायु, नीचगोत्र का उदय नही है, क्योकि सास्वादन गुणस्थान वाला मरकर नरक को नही जाता, किन्तु अविरति गुणस्थान मे इनका उदय रहता है। सास्वादन मे स्त्रीवेद और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन पाँच प्रकृतियो की व्युच्छित्ति है। अविरति मे अप्रत्याख्यानकपाय चतुष्क,वैक्रियद्विक, देवगति, नरकगति, देवायु, नरकायु और दुर्भगत्रिक इन तेरह प्रकृतियो की व्युच्छित्ति होती है। आहारक काययोग मे छठे गुणस्थान की ८१ प्रकृतियो मे से स्त्यानर्द्धि-त्रिक नपु सकवेद, स्त्रीवेद, अप्रशस्त विहायोगति,दु स्वर, छह सहनन, औदारिक-द्विक, अत के पाँचसस्थान—इन २० प्रकृतियो का उदय नही है। आहारकमिश्र काययोग मे इन ६१ प्रकृतियो मे से सुस्वर, पराघातादि दो, प्रशस्तविहायोगति—इन चार को कम करने से ५७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हे ।

ओघं कम्मे सरगदिपत्तेयाहारुरालदुग मिस्स ।
उवघादपणविगुव्वदुथीणतिसठाणसंहदी णत्थि ॥३१८॥

साणे थीवेदछिदी णिरयदुणिरयाउगं ण तियदसय ।
इगिवण्णं पणवीस मिच्छादिसु चउसु वोच्छेदो ।।३१६।।

कार्मण काययोग मे १२२ प्रकृतियो मे से स्वर-विहायोगति—प्रत्येक—आहारकशरीर—औदारिकशरीर—इन सबका युगल, मिश्रमोहनीय, उपघात आदि पाँच, वैक्रिययुगल, स्त्यानर्द्धित्रिक, छह सस्थान, छह सहनन, इन प्रकृतियो के न होने से ८६ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। उसमे भी सास्वादन गुणस्थान मे स्त्रीवेद की व्युच्छित्ति होती है और नरकगतिद्विक, नरकायु—इन तीन का उदय नही होता तथा मिथ्यात्वादि (मिथ्यात्व, सासादन, अविरति, सयोग केवलि) चार गुणस्थानो मे क्रम से ३, १०, ५१, २५, प्रकृतियो की उदयव्युच्छित्ति होती है।

वेदमार्गणा

मूलोघं पुंवेदे थावरचउणिरयजुगलतित्थयरं ।।
इगिविगलं थीसंढं ताबं णिरयाउगं णत्थि ।।३२०।।
इत्थीवेदेवि तहा हारदुपुरिसूणमित्थिसजुत्त ।
ओघं संढे ण हि सुरहारदुथीपुंसुराउतित्थयरं ।।३२१।।

पुरुषवेद मे मूलवत् १२२ प्रकृतियो से स्थावर आदि चार, नरकगतिद्विक, तीर्थङ्कर, एकेन्द्रिय, विकलत्रिक, स्त्रीवेद, नपुसकवेद आतप, नरकायु इन १५ प्रकृतियो के न होने से १०७ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

स्त्रीवेद मे उक्त १०७ प्रकृतियो मे से आहारकशरीर युगल, पुरुषवेद इन तीन प्रकृतियो को कम करके और स्त्रीवेद को मिलाने से १०५ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। नपुसक वेद मे १२२ प्रकृतियो मे से देवगति युगल, आहारकद्विक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, देवायु, तीर्थङ्कर—इन आठ प्रकृतियो को कम होने से ११४ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

कषाय, ज्ञान, संयम व दर्शन मार्गणा

तित्थयरमाणमायालोहचउक्कूणमोघमिह कोहे ।
अणरहिदे णिगिविगलं तावऽणकोहाणुथावरचउक्क ।।३२-

एव माणादितिए मदिसुद अण्णाणगे दु सगुणोघं।
वेभंगेवि ण ताविगिविगलिंदी थावराणुचऊ ॥३२३॥
सण्णाणपचयादी दसणमग्गाणपदोत्ति सगुणोघ।
मणपज्जव परिहारे णवरि ण संढित्थि हारदुग ॥३२४॥
चक्खुम्मि ण साहारणताविगिवितिजाइ थावरं सुहुमं।

क्रोध कपाय मार्गणा मे सामान्य १२२ प्रकृतियो मे से तीर्थङ्कर तथा मान, माया, लोभ चतुष्क सम्वन्धी १२ कपायो को कम करने से १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है तथा अनन्तानुवन्धी रहित क्रोध मे एकेन्द्री, विकलत्रिक, आतप, अनन्तानुवन्धी क्रोध, चार आनुपूर्वी, स्थावर आदि चार, इसप्रकार १०९ मे से १४ प्रकृतियाँ तथा अनन्तानुवन्धी मान आदि तीन व मिथ्यात्व ये चार कुल १८ प्रकृतियो को छोडकर उदययोग्य ९१ प्रकृतियाँ है।

इसी प्रकार मान आदि तीन कपायो मे भी अपने से अन्य १२ कपाय तथा तीर्थङ्कर प्रकृति इन १३ प्रकृतियो के न होने से १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य समझना।

ज्ञान मार्गणा मे कुमति और कुश्रुत ज्ञान मे सामान्य गुणस्थानवत् १२२ मे से आहारक आदि ५ के सिवाय ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। विभग (कुअवधि) ज्ञान मे भी उक्त ११७ प्रकृतियो मे से आतप, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय त्रय, स्थावर आदि चार, आनुपूर्वी चार, कुल मिलाकर १३ प्रकृतियाँ-उदय न होने के कारण १०४ प्रकृतियाँ उदय योग्य है।

पाँच सम्यग्ज्ञान से लेकर दर्शन मार्गणा स्थान पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थान सरीखी उदययोग्य प्रकृतियाँ है, लेकिन मन पर्यायज्ञान के विषय मे यह विशेप जानने योग्य है कि नपु सकदेव, स्त्रीवेद, आहारक युगल ये चार प्रकृतियाँ उदय योग्य नही है।

दर्शन मार्गणा के चक्षुदर्शन मे १२२ मे से साधारण, आतप, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, तीर्थङ्कर—इन आठ प्रकृतियो का उदय न होने के कारण ११४ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

लेश्या मार्गणा

किण्हदुगे सगुणोघ मिच्छे णिरयाणु वोच्छेदो ।।३२५।।
साणे सुराउसुरगदिदेवतिरिक्खाणु वोछिदी एवं ।
काओदे अयदगुणे णिरयतिरिक्खाणुवोछेदो ।।३२६।।
तेउतिये सगुणोघ णादाविगिविगलथावरचउक्कं
णिरयदुतदाउतिरियाणुगं णराणू ण मिच्छदुगे ।।३२७।।

लेश्या मार्गणा मे कृष्ण, नील—इन दो लेश्याओ मे अपने-अपने गुणस्थानवत् तीर्थङ्करादि तीन प्रकृतियो के सिवाय ११९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है। लेकिन मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे नरकानुपूर्वी भी व्युच्छिन्न समझना । सासादन गुणस्थान मे देवायु, देवगति, देवानुपूर्वी, तिर्यचानुपूर्वी—इन चार की व्युच्छित्ति होती है । इसीप्रकार कापोत लेश्या मे भी, किन्तु अविरति गुणस्थान मे नरकानुपूर्वी व तिर्यचानुपूर्वी इन दो प्रकृतियो की व्युच्छित्ति है ।

तेजोलेश्या आदि तीन शुभ लेश्याओ मे अपने-अपने गुणस्थानवत् १२२ मे से आतप, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक, स्थावर आदि चार, नरकगतिद्विक नरकायु, तिर्यचानुपूर्वी—इन १३ प्रकृतियो का उदय न होने से १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है । उसमे भी मिथ्यादृष्टि आदि दो गुणस्थानो मे मनुष्यानुपूर्वी का भी उदय नही है ।

भव्य सम्यक्त्व व संज्ञी मार्गणा

खाइयसम्मो देसो णर एव जदो तहिं ण तिरियाऊ ।
उज्जोवं तिरियगदी तेसि अयदम्हि वोच्छेदो ।।३२९।।

भव्य, अभव्य, उपशम सम्यक्त्व, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व मार्गणाओ मे अपने-अपने गुणस्थान के कथन की तरह जानना । किन्तु विशेष यह जानना कि उपशम सम्यक्त्व तथा क्षायक सम्यक्त्व मे सम्यक्त्व-मोहनीय उदययोग्य नही है तथा उपशमसम्यक्त्व मे आदि की नरकानुपूर्वी आदि तीन आनुपूर्वी और आहारकद्विक ये प्रकृतियाँ उदययोग्य नही ।

भव्विदरुवसमवेदगखइये सगुणोघमुवसमे खयिये ।
ण हि सम्ममुवसमे पुण णादितियाणू य हारदुगं ।।३२८।।

देशसयत नामक पाँचवे गुणस्थान मे क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही होता है, इसलिए तिर्यचायु, उद्योत, तिर्यचगति इन तीन प्रकृतियो का उदय नही है, अत इन तीन की उदयव्युच्छित्ति अविरति गुणस्थान मे हो जाती है।

सेसाण सगुणोघ सण्णिस्सवि णत्थि तावसाहरण।
थावरसुहुमिगिविगल असण्णिणोवि य ण मणुदुच्च ॥३३०॥
वेगुव्वछ पणसंहदिसठाण सुगमण सुभगआउतियं।

शेष मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र सम्यक्त्व, इन तीनो मे अपने-अपने गुणस्थान की तरह उदयादि जानना। अर्थात् मिथ्यारुचि मे ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य है इत्यादि।

सञ्ज्ञी मार्गणा मे सञ्ज्ञी के भी सामान्य १२२ मे से आतप, साधारण, स्थावर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक और पूर्वोक्त तीर्थङ्कर प्रकृति कुल ६ प्रकृतियाँ उदययोग्य नही है। असञ्ज्ञी के मनुष्यगतिद्विक, उच्च गोत्र, वैक्रिय शरीर आदि पट्क, आदि के पाँच सहनन, आदि के पाँच सस्थान, प्रशस्त विहायोगति, सुभगादि तीन, नरकादि तीन आयु—ये २६ प्रकृतियाँ उदययोग्य नही है। अत मिथ्यादृष्टि की ११७ मे से २६ प्रकृतियाँ घटाने पर-९१ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

आहारमार्गणा

आहारे सगुणोघं णवरि ण सव्वाणुपुव्वीओ ॥३३१॥
कम्मे व अणाहारे, पयडीण उदयमेवमादेसे ॥३३२॥

आहारक मार्गणा मे आहारक अवस्था मे सामान्य गुणस्थानवत् उदयादि समझना, परन्तु चारो आनुपूर्वी प्रकृतियो का उदय नही होता है। अत उदययोग्य ११८ प्रकृतियाँ है।

अनाहारक अवस्था मे कार्मण काययोग की तरह ८९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

सत्तास्वामित्व

गति आदि मार्गणाओ मे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार

भेदो के लिये हुए प्रकृतियो के सत्त्व का यथायोग्य क्रम से कथन किया किया जा रहा है। सत्त्व को वतलाने के लिए सर्वप्रथम परिभाषा सूत्र कहते है—

तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए।
तस्सत्तकम्मियाण तग्गुणठाणं ण संभवदि ॥३३३॥

मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र इन तीनो गुणस्थानो मे क्रम से पहले मे तीर्थंकर और आहारक द्विक एक काल मे नही होते, तथा दूसरे मे तीनो ही किसी काल मे नही होते और मिश्र मे तीर्थंकर प्रकृति नही होती। अर्थात् मिथ्यात्व मे नाना जीवो की अपेक्षा १४८ प्रकृतियो की सत्ता है, सासादन मे तीनो ही के किसी काल मे न होने से १४५ की सत्ता है और मिश्र गुणस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति के न होने से १४७ प्रकृतियो की सत्ता है। क्योकि इन सत्व प्रकृतियो वाले जीवो के ये मिथ्यात्वादि गुणस्थान ही सभव नही है।

चत्तारिवि खेत्ताइं आउगवन्धेण होइ सम्मत्तं।
अणुवद महव्वदाइं ण लहइ देवाउग मोत्तु ॥३३४॥

चारो ही गतियो मे किसी भी आयु का बन्ध होने पर सम्यक्त्व होता है, परन्तु देवायु के वन्ध के सिवाय अन्य तीन आयु के वन्ध वाला अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नही कर सकता, क्योकि वहाँ व्रत के कारणभूत विशुद्ध परिणाम नही है।

णिरयतिरिक्खसुराउग सत्ते ण हि देससयलवदखवगा।
अयदचउक्कं तु अण अणियट्टीकरण चरिमम्हि ॥३३५॥
जुगवं सजोगित्ता पुणोबि अणियट्टिकरण वहुभाग।
वोलिय कमसो मिच्छ मिस्स सम्मं खवेदि कमे ॥३३६॥

नरक, तिर्यच तथा देवायु के सत्त्व होने पर क्रम से देशव्रत, सर्वव्रत (महाव्रत और क्षपक श्रेणि नही होती और असयतादि चार गुणस्थान वाले अनन्तानुवन्धी आदि सात प्रकृतियो का क्रम से क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है। उन सातो मे से पहले अनन्तानुवन्धी चतुष्क का अनिवृत्तिकरण रूप परिणामो के अतर्मुहूर्त काल के अन्त समय में एक ही वार विसंयोजन अर्थात

अनन्तानुबन्धी चतुष्क को अप्रत्याख्यानादि बारह कषाय रूप परिणमन करा देता है तथा अनिवृत्तिकरण काल के बहुभाग को छोड कर शेष सख्यातवे एक भाग मे पहले समय से लेकर क्रम मे मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करते है। इस प्रकार सात प्रकृतियो के क्षय का क्रम है। यहाँ पर तीन गुणस्थानो का प्रकृति सत्त्व पूर्वोक्त ही समझना तथा असंयत से लेकर सातवे गुणस्थान तक उपशम सम्यग्दृष्टि तथा क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि इन दोनो के चौथे गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी आदि की उपशम रूप सत्ता होने से १४८ प्रकृतियो का सत्त्व है। पाचवे गुणस्थान मे नरकायु न होने से १४७ का प्रमत्त गुणस्थान मे नरक तथा तिर्यचायु इन दोनो का सत्त्व न होने से १४६ तथा अप्रमत्त मे भी १४६ का सत्त्व है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहत्रिक इन सात प्रकृतियो के क्षय होने से सात-सात कम समझना। अपूर्वकरण गुणस्थान मे दो श्रेणि है, उनमे से क्षपक श्रेणि मे तो १३८ प्रकृतियो का सत्त्व है क्योकि अनन्तानुबन्धी आदि ७ प्रकृतियो का तो पहले ही क्षय किया था और नरक, तिर्यच तथा देवायु इन तीनो की सत्ता ही नही है।

सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदु सेक्कं बादरे अदो एक्कं।
खीणे सोलसऽजोगे बायत्तरि तेरुवत्तंते ॥३३७॥

अनिवृत्तिकरण मे क्रम से १६, ८, १, १, ६ प्रकृतियाँ सत्ता से व्युच्छिन्न होती है तथा अतिम भाग मे एक की ही सत्ता व्युच्छिन्न होती है। दसवे गुणस्थान मे एक की ही व्युच्छित्ति है। ग्यारहवे मे योग्यता ही नही है। बारहवे के अन्तसमय मे १६ प्रकृतियो की सत्त्व व्युच्छित्ति होती है। सयोगि मे किसी भी प्रकृति की व्युच्छित्ति नही है। अयोगि गुणस्थान के अत के दो समयो मे से पहले समय मे ७२ की तथा दूसरे समय मे १३ प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती है।

गुणस्थानो मे सत्त्व और असत्त्व प्रकृतियो की सख्या का क्रम इस प्रकार से है—

णमतिगिणभइगि दोद्दो दस दस सोलट्ठगादिहीणेसु।
सत्ता हवंति एवं असहाय परक्कमुद्दिट्ठं ॥३४२॥

मिथ्यादृष्टि आदि अपूर्वकरण गुणस्थान तक क्रम से शून्य (०), ३, १, शून्य (०), १, २, २, १० इतनी प्रकृतियो का असत्त्व जानना अर्थात् ये प्रकृतियाँ नही रहती है और अनिवृत्तिकरण के पहले भाग मे १०, दूसरे मे १६, तीसरे आदि भाग मे ८ आदि प्रकृतिया असत्त्व जानना और इन असत्त्व प्रकृतियो को सब सत्त्व प्रकृतियो मे घटाने से अवशेष प्रकृतियाँ अपने अपने गुणस्थानो मे सत्त्व प्रकृतियाँ है। (ऐसा सहायता रहित पराक्रम के धारक श्री महावीर स्वामी ने कहा है।)

उपशम के विधान मे भी क्षपणा के विधान की तरह क्रम जानना चाहिए, किन्तु यह विशेष है कि सज्वलन कषाय और पुरुष वेद मध्य मे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय सम्बन्धी दो दो क्रोधादि है, सो पहले उनको क्रम से उपशमन करता है, पीछे सज्वलन क्रोधादि का उपशम करता है। अर्थात् क्षपक श्रेणि की तरह उपशम श्रेणि मे नौवे गुणस्थान के दूसरे भाग मे मध्यम आठ कषायो का उपशम नही होता है किन्तु पुरुष वेद के बाद और सज्वलन के पहले होता है और उसका क्रम ऐसा है कि पुरुप वेद के बाद अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान दोनो के क्रोध का उपशम पश्चात् सज्वलन क्रोध का उपशम इत्यादि। मान आदि मे भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिए।

तिरिए ण तित्थसत्तं णिरयादिसु तिय चउक्क चउ तिण्ण।
आऊणि होंति सत्ता सेसं ओघादु जाणेज्जो ॥३४४॥

तिर्यंचगति मे तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नही है तथा नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति मे क्रम से भुज्यमान नरकायु और बध्यमान तिर्यंच व मनुष्यायु—इन तीन आयुओ की, भुज्यमान तिर्यचायु और बध्यमान—नरक तिर्यंच, मनुष्य देवायु इन चार की, भुज्यमान मनुष्यायु और वध्यमान नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवायु इन चार की, भुज्यमान देवायु और वध्यमान तिर्यंच व मनुष्यायु इन तीन आयु कर्मो की सत्ता रहने योग्य है तथा शेप प्रकृतियो की सत्ता गुणस्थान की तरह समझना चाहिए।

गतिमार्गणा

ओघं वा णेरइये ण सुराऊ तित्थमत्थि तदियो त्ति।
छट्ठित्ति मणुस्साऊ तिरिए ओघं ण तित्थयरं ॥३४६॥

नरक गति मे गुणस्थानवत् सत्ता जानना, किन्तु देवायु की सत्ता न होने से १४७ प्रकृतियाँ सत्त्वयोग्य हैं। तीसरे नरक तक तीर्थङ्कर प्रकृति की न सत्ता है तथा मनुष्यायु की सत्ता छठे नरक तक है। तिर्यंच गति मे भी सत्ता गुणस्थानवत् समझना लेकिन तीर्थङ्कर प्रकृति का सत्त्व नही है, इसलिए सत्त्वयोग्य १४७ प्रकृतियाँ हैं।

> एवं पंचतिरिक्खे पुण्णिदरे णत्थि णिरयदेवाऊ।
> ओघं मणुसतियेसुवि अपुण्णगे पुण अपुण्णेव ॥३४७॥

इसी प्रकार पाँच जाति के तिर्यंचो मे भी सामान्य रीति से सत्त्व जानना, लेकिन विशेष यह है कि लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच मे नरकायु, देवायु—इन दो की सत्ता नही है। मनुष्य के तीन भेदो मे भी गुणस्थानवत् सत्त्व समझना, परन्तु लब्ध्यपर्यान्तक मनुष्य मे लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यच की तरह नरकायु, देवायु और तीर्थङ्कर इन तीन प्रकृतियो के बिना १४५ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य है।

> ओघ देवे ण हि णिरयाऊ सारोत्ति होदि तिरियाऊ।
> भवणतियकप्पवासियइत्थीसु ण तित्थयरसत्तं ॥३४८॥

देवगति मे सामान्यवत् जानना, किन्तु नरकायु न होने से १४७ प्रकृतियो की सत्ता है। सहस्रार स्वर्ग तक तिर्यचायु की सत्ता है। भवनत्रिक देवो व कल्पवासिनी स्त्रियो में तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नही है।

इन्द्रिय व कायमार्गणा

> ओघं पचक्खतसे सेसिंदियकायगे अपुण्णं वा।
> तेउदुगे ण णराऊ सव्वत्थुव्वेल्लणावि हवे ॥३४९॥

पचेन्द्रिय व त्रसकाय मे सामान्य गुणस्थान की तरह प्रकृतियो की सत्ता है। शेष एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय तक तथा पृथ्वी आदि स्थावर काय मे लब्ध्यपर्याप्तक की तरह १४५ प्रकृतियो की सत्ता जानना। परन्तु तेजस्काय और वायुकाय मे मनुष्यायु का सत्त्व न होने से इन दोनों मे १४४ की सत्ता

वेद मार्गणा से लेकर आहारक मार्गणा पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थानवत् सामान्य सत्त्व समझना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि नपुंसक वेद और स्त्रीवेद क्षपक श्रेणी वाले के तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नही है। इसी प्रकार कृष्ण व नील इन दो लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि के और पीतादि तीन शुभ लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि के भी तीर्थङ्कर प्रकृति का सत्त्व नही है।

अभव्य जीवो के तीर्थकर, सम्यक्त्व, मिश्रमोहनीय तथा आहारकचतुष्क (आहारक शरीर, आहारक अगोपाग, आहारक बन्धन, आहारक सघात) इन सात प्रकृतियो का सत्त्व नही है। असज्ञी जीव के तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नही है।

अनाहारक मार्गणा मे कार्मण काययोगवत् प्रकृतियो का सत्त्व समझना चाहिए।

○

श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के समान-असमान मन्तव्य

श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के वन्धस्वामित्व सम्वन्धी समान-असमान मन्तव्य यहाँ उपस्थित करते है ।

(१) तीसरे गुणस्थान मे आयुबन्ध नही होने के बारे मे श्वेताम्बर एव दिगम्वर कर्मसाहित्य मे समानता है । श्वेताम्बर कर्मसाहित्य मे तीसरे मिश्र गुणस्थान मे आयुकर्म के वन्ध को नही मानते है । यही मन्तव्य दिगम्बर कर्म-साहित्य का भी है ।

(२) पृथ्वीकाय आदि मार्गणाओ मे दूसरे गुणस्थान मे ९६ और ९४ प्रकृतियो का वन्ध मतभेद से कर्मग्रन्थ मे है लेकिन गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे केवल ९४ प्रकृतियो का वन्ध माना है ।

(३) एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार इन्द्रिय मार्गणाओ तथा पृथ्वी, जल और वनस्पति— इन तीन काय-मार्गणाओ मे पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान कर्मग्रन्थ मे माने है । गो० कर्मकाड मे भी इसी पक्ष को स्वीकार किया है । लेकिन सर्वार्थसिद्धिकार का इस विषय मे भिन्न मत है । वे एकेन्द्रिय आदि चार इन्द्रिय मार्गणाओ एव पृथ्वीकाय आदि तीन मार्गणाओ मे पहला ही गुणस्थान मानते है ।

(४) एकेन्द्रियो मे गुणस्थान मानने के सम्वन्ध मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे दो पक्ष है । सैद्धान्तिक पक्ष सिर्फ पहला गुणस्थान और कर्मग्रथ पक्ष पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान मानता है । दिगम्वर सम्प्रदाय मे भी यही दो पक्ष देखने मे आते है—सर्वार्थसिद्धि और गो० जीवकाण्ड मे सैद्धान्तिक पक्ष तथा गो० कर्मकाण्ड मे कर्मग्रान्थिक पक्ष ।

(५) औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा मे मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०९ प्रकृतियो का वन्ध कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाण्ड मे भी माना गया है ।

(६) औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा मे अविरति सम्यग्दृष्टि को ७०

वेद मार्गणा से लेकर आहारक मार्गणा पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थानवत् सामान्य सत्त्व समझना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि नपुंसक वेद और स्त्रीवेद क्षपक श्रेणी वाले के तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण व नील इन दो लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि के और पीतादि तीन शुभ लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि के भी तीर्थङ्कर प्रकृति का सत्त्व नहीं है।

अभव्य जीवों के तीर्थंकर, सम्यक्त्व, मिश्रमोहनीय तथा आहारकचतुष्क (आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक बन्धन, आहारक संघात) इन सात प्रकृतियों का सत्त्व नहीं है। असंज्ञी जीव के तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नहीं है।

अनाहारक मार्गणा में कार्मण काययोगवत् प्रकृतियों का सत्त्व समझना चाहिए।

○

श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के समान-असमान मन्तव्य

श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के बन्धस्वामित्व सम्बन्धी समान-असमान मन्तव्य यहाँ उपस्थित करते है।

(१) तीसरे गुणस्थान मे आयुबन्ध नही होने के बारे मे श्वेताम्बर एव दिगम्बर कर्मसाहित्य मे समानता है। श्वेताम्बर कर्मसाहित्य मे तीसरे मिश्र गुणस्थान मे आयुकर्म के बन्ध को नही मानते है। यही मन्तव्य दिगम्बर कर्म-साहित्य का भी है।

(२) पृथ्वीकाय आदि मार्गणाओ मे दूसरे गुणस्थान मे ९६ और ९४ प्रकृतियो का बन्ध मतभेद से कर्मग्रन्थ मे है लेकिन गोम्मटसार कर्मकाण्ड मे केवल ९४ प्रकृतियो का बन्ध माना है।

(३) एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार इन्द्रिय मार्गणाओ तथा पृथ्वी, जल और वनस्पति—इन तीन काय-मार्गणाओ मे पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान कर्मग्रन्थ मे माने है। गो० कर्मकाड मे भी इसी पक्ष को स्वीकार किया है। लेकिन सर्वार्थसिद्धिकार का इस विषय मे भिन्न मत है। वे एकेन्द्रिय आदि चार इन्द्रिय मार्गणाओ एव पृथ्वीकाय आदि तीन मार्गणाओ मे पहला ही गुणस्थान मानते है।

(४) एकेन्द्रियो मे गुणस्थान मानने के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे दो पक्ष है। सैद्धान्तिक पक्ष सिर्फ पहला गुणस्थान और कर्मग्रथ पक्ष पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान मानता है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी यही दो पक्ष देखने मे आते है—सर्वार्थसिद्धि और गो० जीवकाण्ड मे सैद्धान्तिक पक्ष तथा गो० कर्मकाण्ड मे कर्मग्रान्थिक पक्ष।

(५) औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा मे मिथ्यात्व गुणस्थान मे १०९ प्रकृतियो का बन्ध कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाण्ड मे भी माना गया है।

(६) औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा मे अविरति सम्यग्दृष्टि को ७०

प्रकृतियो के वन्ध विपयक टवे के मत की पुष्टि गो० कर्मकाण्ड मे भी की गई है।

(७) कर्मग्रथ मे आहारकमिश्र काययोग मे ६३ प्रकृतियो का वन्ध माना है, किन्तु गो० कर्मकाण्ड मे ६२ प्रकृतियो का वन्ध माना गया है।

(८) कृष्ण आदि तीन लेश्याओ मे कर्मग्रथ और गो० कर्मकाण्ड ने ७७ प्रकृतियो और सैद्धान्तिक पक्ष ने ७५ प्रकृतियो का वन्ध माना है।

कर्मग्रथ व गो० कर्मकाण्ड मे शुक्ललेश्या का वन्धस्वामित्व समान है।

तीसरे कर्मग्रथ मे कृष्ण आदि तीन लेश्याए पहले चार गुणस्थानो मे मानी है। इसी प्रकार का गोम्मटसार और सर्वार्थसिद्धि का भी मत है।

(९) श्वेताम्वर सम्प्रदाय मे १२ देवलोक माने हैं (तत्त्वार्थ० अ० ४, सू० २० का भाष्य) परन्तु दिगम्वर सम्प्रदाय मे १६ (तत्त्वार्थ० अ० ४ सू० १८ की सर्वार्थसिद्धि टीका)। श्वेताम्वर सम्प्रदाय के अनुसार सनत्कुमार से सहस्रार पर्यन्त छह देवलोक है, किन्तु दिगम्वर सम्प्रदाय के अनुसार १०। इनमे से ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार देवलोक है, जो श्वेताम्वर सम्प्रदाय मे नही माने है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे तीसरे सनत्कुमार से लेकर पाँचवे ब्रह्मलोक पर्यन्त केवल पद्मलेश्या तथा छठे लान्तक से लेकर ऊपर से सव देवलोको मे शुक्ल-लेश्या मानी है, किन्तु दिगम्वर सम्प्रदाय मे सनत्कुमार, माहेन्द्र दो देवलोको मे तेजोलेश्या व पद्मलेश्या, ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ—इन चार देवलोको मे पद्मलेश्या, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार—इन चार देवलोको मे पद्म व शुक्ल लेश्या तथा आनत आदि शेप सव देवलोको मे केवल शुक्ल-लेश्या मानी है।

(१०) श्वेताम्वर, दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो मे तेज व वायुकायिक जीव स्थावर नामकर्म के उदय के कारण स्थावर माने गये है, तथापि श्वेताम्वर साहित्य मे अपेक्षा विशेष से उनको त्रस भी कहा है। तत्त्वार्थ भाष्य टीका आदि मे तेज कायिक, वायुकायिक को 'गतित्रस' और आचाराग निर्युक्ति और ---- टीका मे—'लव्धि त्रस' कहा है, लेकिन इन दोनो शव्दो के तात्पर्य मे

कोई अन्तर नही है। दोनो का आशय यह है कि तेजस् व वायु कायिक मे द्वीन्द्रिय आदि की तरह त्रसनाम कर्मोदय नही है, लेकिन गमन क्रिया रूप शक्ति होने से त्रसत्व माना है। द्वीन्द्रियादि मे त्रसनाम कर्मोदय व गमन क्रिया रूप दोनो प्रकार का त्रसत्व है।

लेकिन दिगम्बर साहित्य मे तेज कायिक, वायुकायिक जीवो को स्थावर ही कहा है, अपेक्षा विशेष से उनको त्रस नही कहा है।

(११) पचसंग्रह (श्री चन्द्रर्षि महत्तर रचित) मे औदारिकमिश्र काययोग मे कर्मग्रन्थ के समान तिर्यचायु और मनुष्यायु के बन्ध को माना है।

(१२) कर्मग्रन्थ मे आहारक काययोग मे ६३ प्रकृतियो का बन्ध कहा है। लेकिन इस विषय मे पचसग्रहकार का मत भिन्न है। वे आहारक काययोग मे ५७ प्रकृतियो का वन्ध मानते हैं।

आशा है उक्त मतभिन्नताएँ जिज्ञासुओ को तलस्पर्शी अध्ययन मे सहायक वनेगी।

मार्गणाओं में बंध-स्वामित्व प्रदर्शक यंत्र

ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मो की वध प्रकृतियाँ १२० है।

मार्गणाओ मे ओघ (सामान्य) और गुणस्थानो की अपेक्षा वन्ध-स्वामित्व का वर्णन किया गया है कि सामान्य से किम मार्गणा मे कितनी प्रकृतिया और गुणस्थानो की अपेक्षा कितनी प्रकृतियाँ वधयोग्य हैं।

मार्गणाओ मे वन्ध-विच्छेद वतलाने के लिये निम्नलिखित ५५ प्रकृतियो का अधिक उपयोग हुआ है। उनके नाम क्रमश निम्न प्रकार है—

१ तीर्थंकर नामकर्म,
२ देवगति,
३ देव आनुपूर्वी,
४ वैक्रिय शरीर,
५ वैक्रिय अगोपाग,
६ आहारक शरीर,
७ आहारक अगोपाग,
८ देवायु
९ नरकगति,
१० नरक-आनुपूर्वी,
११ नरक-आयु,
१२ सूक्ष्म,
१३ अपर्याप्त,
१४ साधारण,
१५ द्वीन्द्रिय,
१६ त्रीन्द्रिय
[illegible]तुरिन्द्रिय,

१८ एकेन्द्रिय,
१९ स्थावर नामकर्म,
२० आतप नामकर्म,
२१ नपुसक वेद,
२२ मिथ्यात्व,
२३ हुड सस्थान,
२४ सेवार्त सहनन,
२५ अनन्तानुवन्धी क्रोध,
२६ अनन्ता० मान,
२७ अनन्ता० माया,
२८ अनन्ता० लोभ,
२९ न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान,
३० सादि सस्थान,
३१ वामन सस्थान,
३२ कुब्ज सस्थान,
३३ ऋषभनाराच सहनन,
३४ नाराचसह

३५ अर्धनाराच सहनन
३६ कीलिका सहनन
३७ अशुभविहायोगति,
३८ नीचगोत्र,
३९ स्त्रीवेद,
४० दुर्भग,
४१ दुस्वर,
४२ अनादेय,
४३ निद्रा-निद्रा,
४४ प्रचला-प्रचला,
४५ स्त्यानर्द्धि,
४६ उद्योत,
४७ तिर्यचगति,
४८ तिर्यचानुपूर्वी,
४९ तिर्यचायु,
५० मनुष्य-आयु,
५१ मनुष्यगति,
५२ मनुष्यानुपूर्वी,
५३ औदारिक शरीर,
५४ औदारिक अगोपाग,
५५ वज्रऋषभनाराच सहनन ।

अगले यत्रो मे वन्ध-विच्छेद बतलाने के लिये प्रारम्भिक प्रकृति से अन्तिम प्रकृति का नामोल्लेख किया जायेगा। जिसका अर्थ यह है कि उस नाम वाली प्रकृति के नाम सहित अंतिम प्रकृति के नाम तक की सभी प्रकृतियो का ग्रहण करना चाहिये । जैसे देवगति से नरकायु तक लिखा होने पर इनमे देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय अगोपाग, आहारकशरीर,आहारक अगोपाग, देवायु, नरकगति, नरक-आनुपूर्वी,नरक आयु (२ से ११) तक की प्रकृतियो का ग्रहण होगा।

नरकगति तथा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा नरकत्रय का वन्ध-स्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १०१ गुणस्थान —आदि के चार

देवगति (२) से लेकर आतप नामकर्म (२०) तक की १९ प्रकृतियो से विहीन = १०१

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुन: वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१००	१ तीर्थंकर नाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान सेवार्त संहनन = ४
२	९६	×	×	अनन्तानुवन्धी क्रोध (२५) से लेकर तिर्यंचायु (४९) तक = २५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	२ तीर्थंकर मनुष्य-आयु	

अवन्ध—जिसका विवक्षित गुणस्थान मे वन्ध नही होता, लेकिन अन्य गुणस्थान मे वन्ध सम्भव है।

पुन:वन्ध—जिसका अन्य गुणस्थान मे वन्ध नही होता है लेकिन इस गुणस्थान मे वंध होता है।

वन्ध-विच्छेद - जिसका वन्ध इस गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में होता ही नही है।

पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा नरकत्रय का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०० गुणस्थान—आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से आतप नामकर्म (२०) तक की २० प्रकृतियो से विहीन - १००

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१००	×	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुड-संस्थान, सेवार्त संहनन = ४
२	९६	×	×	नरक सामान्यवत् अनन्तानु० क्रोध (२५) से लेकर तिर्यचायु (४९) तक = २५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७१	×	१ मनुष्यायु	×

महातमःप्रभा नरक का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ९९ गुणस्थान—आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से आतप नामकर्म (२०) तथा मनुष्यायु विहीन =९९

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	९६	३ उच्चगोत्र मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी	×	नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडसस्थान, सेवार्त संहनन तिर्यंचायु=५
२	९१	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) लेकर तिर्यंचानुपूर्वी (४८ तक=२४
३	७०	×	३ उच्चगोत्र मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी	
४	७०	×	×	×

तिर्यचगति—पर्याप्त तिर्यच का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ११७ गुणस्थान—आदि के पाच

तीर्थंकर नामकर्म, आहारक शरीर, आहारक अगोपाग विहीन=११७

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध विच्छेद
१	११७	×	×	नरगति (९) से सेवार्त सहनन (२४) तक=१६
२	१०१	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (२५) से वज्रऋषभनाराच सहनन (५५) तक=३१
३	६९	१ देवायु	×	×
४	७०	×	१ देवायु	अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ=४
५	६६	×	×	×

अपर्याप्त[1] तिर्यच, अपर्याप्त मनुष्य का बंध-स्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १०९ गुणस्थान — प्रथम (मिथ्यात्व)

तीर्थंकर नामकर्म (१) मे नरक-आयु (११) तक की ११ प्रकृतियो मे विहीन = १०९

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुन. वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१०९	×	×	×

१ अपर्याप्त का यहा अर्थ लब्धि-अपर्याप्त से है, करण-अपर्याप्त से नही। लब्धि-अपर्याप्त अर्थ लेने का कारण यह है कि करण-अपर्याप्त मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध कर सकता है, लब्धि-अपर्याप्त नही। इसीलिये लब्धिअपर्याप्तता की अपेक्षा तीर्थंकर नामकर्म को सामान्य वन्धयोग्य प्रकृतियो मे ग्रहण नही किया गया है।

पर्याप्त मनुष्य तथा मन, वचन योग सहित औदारिक काययोग का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १२० (बंधाधिकार मे बताये गये अनुसार)

गुणस्थान—१४

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन. बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	११७	३ तीर्थंकर नाम आहारकशरीर आहारकअंगो.	×	नरकगति (६) से सेवार्त संहनन (२४) तक=१६
२	१०१	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (२५) से वज्रऋषभ-नाराच संहनन (५५) तक=३१
३	६९	१ देवायु	×	×
४	७१	×	२ तीर्थंकर नाम, देवायु	अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ =४
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान =४
६	६३	×	×	,, ,, ६/७

गु०स०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध-विच्छे[द]		
७	५९/५८		२ आहारक शरीर आहारक अगो-पाग	बन्धाधिकार के सम[ान]		
८	५८ ५६ २६	×	×	बन्धाधिकार के समा[न] २/३०/४		
९	२२ २१ २० १९ १८	× × × × ×	× × × × ×	" " " " "	" " " " "	
१०	१७	×	×	"	"	
११	१	×	×	"	"	
१२	१	×	×			
१३	१	×	×			
१४	×	×	×	"	"	१
				×		

सामान्य देवगति, सौधर्म, ईशान देवलोक, वैक्रिय काययोग का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १०४ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से चतुरिन्द्रिय जाति (१७) तक १६ प्रकृतियो से विहीन =१०४

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुन वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१०३	१ तीर्थकर नाम	×	नपुसक वेद, मिथ्यात्व, हुडसस्थान, सेवार्त सहनन एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप =७
२	९६	×	×	अनन्ता० क्रोध (२५) से तिर्यचायु (४६) तक =२५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	२ तीर्थकर नाम, मनुष्यायु	

सनत्कुमार से सहस्त्रार पर्यन्त देवलोको का वन्ध-स्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १०१ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से लेकर आतप नामकर्म (२०) तक की १९ प्रकृतियो से विहीन=१०१

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुन वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१००	१ तीर्थकर नाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड सस्थान, सेवार्त सहनन =४
२	९६	×	×	अनन्तानुवन्धी क्रोध (२५) से लेकर तिर्यचायु (४९) तक=२५
३	७०	१ मनुष्यायु		×
४	७२	×	२ तीर्थकर नाम मनुष्यायु	×

आनत से अच्युत पर्यंत तथा नवग्रैवेयक देवलोकों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ९७ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से आतप नामकर्म (२०) तक की १९ तथा उद्योत, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यचायु ये चार कुल २३ प्रकृतियों से विहीन=९७

गु०स०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	९६	१ तीर्थंकर नाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्तसंहनन=४
२	९२	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से स्त्यानर्द्धि (४५) तक=२१
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	२ तीर्थंकर नाम मनुष्यायु	

अनुत्तर से सर्वार्थसिद्धि तक देवलोकों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ७२ गुणस्थान—एक (अविरत)

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन. बन्ध	बन्ध-विच्छेद
४	७२	×	२ तीर्थंकर, मनुष्यायु	×

भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०३ गुणस्थान—आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से चतुरिन्द्रिय जाति (१७) तक १७ प्रकृतियों से विहीन = १०३

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध विच्छेद
१	१०३	×	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप = ७
२	९६		×	अनन्ता० क्रोध (२५) से तिर्यंचायु (४९) तक = २५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७१	×	१ मनुष्यायु	

तेउकाय, वायुकाय (गतित्रस) का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०५ गुणस्थान—एक (मिथ्यात्व)

तीर्थंकर नामकर्म (१) से नरकायु (११) तक ११ तथा मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, उच्च गोत्र ये चार कुल १५ प्रकृतियो से विहीन = १०५

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०५	×	×	×

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) वचनयोग, काययोग, पृथ्वी, जल तथा वनस्पतिकाय का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०९ गुणस्थान—आदि के दो

तीर्थंकर नामकर्म (१) से नरकायु (११) तक की ११ प्रकृतियो से विहीन =१०९

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०९	×	×	सूक्ष्म (१२) से लेकर सेवार्त सहनन (२४) तक = १३[1]
२	९६	×	×	

[1] किन्ही किन्ही आचार्यो का मन्तव्य है कि दूसरे गुणस्थान मे एकेन्द्रिय आदि मनुष्यआयु और तिर्यंचआयु का भी बन्ध नही करते है अत. ९४ प्रकृतियो का बन्ध दूसरे गुणस्थान मे मानना चाहिये। अत मिथ्यात्व गुणस्थान की विच्छिन्न प्रकृतियो मे दो प्रकृतियो को और मिलाने पर १५ प्रकृतिया होती है। उनको कम करने पर ९४ प्रकृतिया दूसरे गुणस्थान मे बन्धयोग्य रहती है।

गो० कर्मकाड मे दूसरे गुणस्थान की बधयोग्य प्रकृतिया ९४ ही मानी है।

औदारिकमिश्र काययोग का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ११४ गुणस्थान—१, २, ४, १३ (चार गुणस्थान)

आहारक शरीर, आहारक अगोपाग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु विहीन = ११४

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध विच्छेद
१	१०९	५ तीर्थकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	×	सूक्ष्मनाम (१२) से सेवार्त सहनन (२४) तक १३ तथा मनुष्यायु, तिर्यंचायु = १५
२	९४	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से तिर्यंचानुपूर्वी (४८) तक = २१
४	७५		५ तीर्थकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	
१३	१	×	×	

विशेष—जिज्ञासु ने यहा शका की है कि औदारिक मिश्र काययोग तिर्यंच और मनुष्य को होता है और तिर्यंच व मनुष्यगति के बन्धस्वामित्व मे चौथे गुणस्थान मे क्रमशः ७० और ७१ प्रकृतियो का बन्ध कहा है और यहा औदारिकमिश्र काययोग मे ७५ प्रकृतियो का। इन ७५ प्रकृतियो मे मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच सहनन का समावेश है। इनका तिर्यंचगति और मनुष्यगति के चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियो मे समावेश नही होता है अत ७५ प्रकृतियो का बन्धस्वामित्व मानना युक्ति-पुरस्सर नही है। गो०

कार्मण काययोग व अनाहारक का वन्धस्वामित्व

सामान्य वन्धयोग ११२ गुणस्थान—१, २, ४, १३ (चार गुणस्थान)

आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, मनुष्यायु, तिर्यचायु कुल ८ प्रकृतियो से विहीन=११२

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुन. वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१०७	५ तीर्थकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	×	सूक्ष्मनाम (१२) से सेवार्त सहनन (२४) तक=१३
२	९४	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से तिर्यचानुपूर्वी (४८) तक २
४	७५		५ तीर्थकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	
१३	१	×	×	

यद्यपि अनाहारक मार्गणा १, २, ४, १३ और १४ इन पाच गुणस्थानो मे पाई जाती है, और वन्धस्वामित्व कार्मण काययोग के समान १, २, ४ और १३ इन चार गुणस्थानो का वतलाया है तो इसका कारण यह है कि चौदहवे गुणस्थान मे कर्मवन्ध के कारणो का सर्वथा अभाव हो जाने से किसी भी कर्म का वन्ध नही होता है और शेष गुणस्थानो मे मिथ्यात्वादि वन्धकारण अपनी-अपनी भूमिका तक रहते है। अत. कार्मण काययोग जैसा अनाहारक मार्गणा का चार गुणस्थानो मे वन्धस्वामित्व वतलाया है।

अनाहारक के दो अर्थ है—१ कर्मवन्ध के कारणो का पूर्ण रूप से निरोध हो जाने से कर्मो का सर्वथा आहार-ग्रहण न करना। यह अवस्था चौदहवे अयोगि केवली गुणस्थान मे प्राप्त होती है, इसीलिये चौदहवाँ गुणस्थान अनाहारक मार्गणा मे माना जाता है। २—जिस स्थिति मे सिर्फ कार्मण काययोग की पुद्‌गलवर्गणाओ का ग्रहण होता हो उसे अनाहारक अवस्था कहते है। इस दृष्टि से संसारी जीव एक शरीर को छोड़ कर भवान्तर प्राप्ति के लिये विग्रहगति द्वारा गमन करता है, उस स्थिति मे कार्मण योग साथ रहता है, अन्य औदारिककाय आदि की ग्राह्य वर्गणायें नही रहती है। इन विग्रह गति मे स्थित जीवो के सिर्फ पहला, दूसरा और चौथा यह तीन गुणस्थान होते है।

सयोगि केवली (तेरहवा गुणस्थान) अनाहारक मार्गणा मे इसलिये ग्रहण किया गया है कि आयु कर्म के परमाणुओ से अन्य कर्मो की स्थिति अधिक हो तो उनको आयुकर्म की स्थिति के वरावर करने के लिये समुद्‌घात क्रिया करते है। इस समुद्‌घात स्थिति मे सिर्फ कार्मण योग रहता है और अधिक स्थिति वाले कर्मो को विपाकोदय द्वारा आयुकर्म की स्थिति के वरावर कर लिया जाता है। यह समुद्‌घात सयोगि केवली द्वारा होता है, इसीलिये तेरहवा गुणस्थान अनाहारक मार्गणा मे माना गया और वहाँ सिर्फ सातावेदनीय कर्म का वन्ध होता है।

आहारक एवं आहारकमिश्र काययोग का वन्ध-स्वामित्व

कर्मग्रन्थ के मतानुसार आहारक और आहारकमिश्र काययोग का वन्ध-स्वामित्व सामान्य से ओर गुणस्थान की अपेक्षा वन्धाधिकार मे वताये गये छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान के जैसा ६३ प्रकृतियो का है और गुणस्थान छठा वतलाया है।

लेकिन पचसग्रह सप्ततिका का मत है कि आहारक काययोग मे छठा और सातवा यह दो गुणस्थान है तथा आहारकमिश्र काययोग मे सिर्फ छठा गुणस्थान है। तव आहारक काययोग का वन्ध छठे गुणस्थान मे ६३ व सातवे गुणस्थान मे ५७ और देवायु का वन्ध न हो तो ५६ प्रकृतियो का माना जाना चाहिये।

उक्त मतव्य का आधार यह है कि आहारक शरीर का वन्धयोग्य गुणस्थान सातवा है और उदययोग्य छठा। जव चौदह पूर्वधारी आहारक शरीर करता है, उस समय लब्धि का उपयोग करने से प्रमाद युक्त होने से छठा गुणस्थान होता है और आहारक शरीर का प्रारम्भ करते समय वह औदारिक के साथ मिश्र होता है, यानी आहारक और आहारकमिश्र काययोग मे छठा गुणस्थान होता है किन्तु वाद मे विशुद्धि की शक्ति से सातवे गुणस्थान मे आता है तव आहारक योग ही रहता है और गुणस्थान सातवा।

इस दृष्टि से आहारक काययोग मे छठा और सातवा तथा आहारकमिश्र काययोग मे छठा गुणस्थान माना जाना चाहिये और तव आहारक काययोग मे ६३ और ५७ तथा आहारकमिश्र काययोग मे ६३ प्रकृतिया वन्धयोग्य होगी।

गोम्मटसार कर्मकाड मे आहारक काययोग मे ६३ प्रकृतियाँ और आहारकमिश्र काययोग मे देवायु का वन्ध न मानने से ६२ प्रकृतियाँ वन्धयोग्य मानी है। देवायु के बन्ध न मानने का कारण यह नियम है कि मिश्र अवस्था मे आयु का वन्ध नही होता है।

वैक्रियमिश्र काययोग का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १०२ गुणस्थान—१, २, ४ (कुल तीन)

सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकत्रिक, देव त्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, तिर्यचायु, मनुष्यायु विहीन = १०२

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुन: वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१०१	१ तीर्थकर नाम	×	मिथ्यात्व, हुडसस्थान, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, नपुसकवेद, सेवार्त सहनन = ७
२	९४	×	×	बन्धाधिकार मे बताई गई २५ प्रकृतियो मे से तिर्यचायु को छोडकर २४ प्रकृतियां
४	७१	×	१ तीर्थकर नाम	

यद्यपि लब्धिजन्य वैक्रियशरीर की अपेक्षा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग मे पाचवा और छठा गुणस्थान होना भी सम्भव है, लेकिन वैक्रिय काययोग मे एक से चार और वैक्रियमिश्र काययोग मे १, २, ४ गुणस्थान मानने का कारण यह है कि स्वाभाविक भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा की गई है। इसीलिये वैक्रिय काययोग मे चार और वैक्रियमिश्र काययोग मे १, २, ४ यह तीन गुणस्थान माने है।

संशोधन—पृष्ठ ६४ पर वैक्रियमिश्र काययोग मे दूसरे मे ९६, व चौथे मे ७२ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य लिखी है। वहाँ क्रम से ९४ और ७१ समझना।

पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, भव्य, संज्ञी का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १२० गुणस्थान—१४ गुणस्थान

ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मो की बन्धाधिकार मे बताई गई १२० प्रकृतिया

गु०क्र०	बन्धयोग्य	अबन्ध	पुन॰ बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	११७	३ तीर्थकर आहा० शरीर आहा० अगो०		बन्धाधिकार के अनुसार १६
२	१०१	×	×	बन्धाधिकार के अनुसार २५
३	७४	२ देव व मनुष्य आयु	×	×
४	७७	×	३ तीर्थकर नाम, देव व मनुष्यायु	बन्धाधिकार के अनुसार १०
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान ४
६	६३	×		बन्धाधिकार के समान ६/७

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध-विच्छेद
७	५६/५८	×	२ आहारक शरीर आहारक अगो०	बन्धाधिकार के अनुसार १
८	५८ ५६ २६	×	×	बन्धाधिकार के अनुसार २ बन्धाधिकार के अनुसार ३० बन्धाधिकार के अनुसार ४
९	२२ २१ २० १९ १८	× × × × ×	× × × × ×	बन्धाधिकार के अनुसार १ " " १ " " १ " " १ " " १
१०	१७	×	×	बन्धाधिकार के अनुसार १६
११	१	×	×	×
१२	१	×	×	×
१३	१	×	×	बन्धाधिकार के अनुसार १
१४	×	×	×	×

१ वेदमार्गणा तथा कपायमार्गणा के सामान्य भेदो—क्रोध, मान, माया और लोभ—मे से क्रोध, मान, माया इन तीन भेदो मे वन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० है तथा पहले मिथ्यात्व मे नौवे अनिवृत्तिकरण तक नौ गुणस्थान होते है। उनमे ऊपर कहे गये वन्ध के अनुसार प्रत्येक गुणस्थान मे वन्धस्वामित्व समझना।

२ कपायमार्गणा के चौथे सामान्य भेद लोभ मे वन्धयोग्य १२० प्रकृतिया है और गुणस्थान मिथ्यात्व मे सूक्ष्मसपराय पर्यन्त दस होते है। इनका वध-स्वामित्व ऊपर कहे गये अनुसार जानना।

३ अनन्तानुवन्धी कपाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) प्रारभ के दो गुणस्थानो मे पाई जाती है। इसमे तीर्थङ्कर एव आहारकद्विक का वन्ध सम्भव नही है। क्योकि तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध सम्यक्त्वसापेक्ष है और आहारकद्विक का वन्ध सयमसापेक्ष। किन्तु अनन्तानुवन्धी कषाय मे न सम्यक्त्व है और न चारित्र। अत· तीन प्रकृतियो के कम करने पर सामान्य से ११७ और गुणस्थानों मे वन्धाधिकार के समान पहले मे ११७ और दूसरे मे १०१ प्रकृतिया वन्धयोग्य है।

४ अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का उदय आदि के चार गुणस्थान पर्यन्त रहता है अत इसमे चार गुणस्थान माने जाते है। इस कषाय मे सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध हो सकता है किन्तु सर्वविरति चारित्र न होने से आहारकद्विक का वन्ध नही होता। अत. आहारकद्विक के बन्धयोग्य न होने से सामान्य से ११८ प्रकृतिया तथा गुणस्थानो मे बन्धाधिकार के समान आदि के चार गुणस्थानो मे क्रमश ११७. १०१, ७४, ७७ प्रकृतिया बन्धयोग्य है।

५ प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क मे एकदेश चारित्र होने से आदि के पाच गुणस्थान होते है। तीर्थङ्कर प्रकृति वन्धयोग्य है लेकिन आहारक-द्विक का वन्ध सम्भव नही है। अत. सामान्य से ११८ प्रकृतिया तथा गुण-स्थानो मे एक से लेकर पाचवे तक क्रमश· ११७, १०१, ७४, ७७, ६७ प्र या वन्धयोग्य हैं।

६ सज्वलन कषायचतुष्क में से क्रोध, मान, माया का उदय मिथ्यात्व से अनिवृत्ति गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थानों मे होता है, तथा लोभ का उदय दसवे सूक्ष्म संपराय गुणस्थान तक। अत सामान्य से बन्ध-योग्य प्रकृतियां १२० हैं तथा गुणस्थानों की अपेक्षा सज्वलन क्रोध, मान और माया का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के समान पहले से लेकर नौ गुणस्थानो मे क्रमश. ११७, १०१ आदि समझना चाहिये। सज्वलन लोभ दसवे गुणस्थान तक रहता है अतः नौ गुणस्थान तक तो क्रोध, मान और माया के बन्ध जैसा और दसवे गुणस्थान मे १७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

७ ज्ञानमार्गणा के भेद अज्ञानत्रिक (मति-अज्ञान, श्रुताज्ञान, अवधि-अज्ञान–विभगज्ञान) मे आदि के दो या तीन गुणस्थान होते हैं। इनमे सम्यक्त्व और चारित्र नही होने से तीर्थकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों के बन्धयोग्य नही होने से सामान्य बन्धयोग्य ११७ प्रकृतिया है और तीनों गुणस्थानो मे बन्धाधिकार के समान क्रमश. ११७, १०१, ७४ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य है।

८ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओ मे चौथे अविरत से लेकर बारहवे क्षीणमोह पर्यन्त नौ गुणस्थान होते है। इनमे आहारकद्विक का बन्ध सभव है, अत सामान्य से चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियो के साथ आहारकद्विक को मिलाने से ७९ प्रकृतियां है, तथा गुणस्थानो मे बन्धाधिकार के समान क्रमश. ७७, ६७, आदि बारहवे गुणस्थान तक समझना चाहिये।

९ मन पर्याय ज्ञान छठे प्रमत्त सयत से लेकर बारहवे क्षीणमोह पर्यन्त होता है। अत इसमे ७ गुणस्थान है तथा आहारकद्विक का बन्ध सभव होने से ६३+२=६५ प्रकृतियां सामान्य बन्धयोग्य है और गुणस्थानो मे बन्धाधिकार के समान छह से बारह तक का बन्धस्वामित्व जानना।

१० केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओ मे अंतिम दो गुणस्थान— सयोगि केवली, अयोगि केवली—होते है। अयोगि केवली गुणस्थान मे त बन्धकारण का अभाव होने से किसी भी प्रकृति का बन्ध

लेकिन तेरहवें सयोगि केवली गुणस्थान में सिर्फ एक प्रकृति—सातावेदनीय का बन्ध होता है।

११ दर्शनमार्गणा के भेद चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन क्षायोपशमिक भाव होने से पहले से लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहते हैं अत इनका बन्धस्वामित्व सामान्य से और गुणस्थानो मे बन्धाधिकार के समान है। अर्थात् सामान्य बन्धयोग्य १२० और गुणस्थानो मे क्रमश ११७, १०१, ७४, ७७ आदि बारहवें गुणस्थान तक समझना चाहिये।

१२ संयममार्गणा के भेद अविरति मे आदि के चार गुणस्थान होते हैं। चौथे गुणस्थान मे सम्यक्त्व होने से तीर्थंकर नाम का बन्ध हो सकता है किन्तु चारित्र न होने से चारित्रसापेक्ष आहारकद्विक का बन्ध न होने से ११८ प्रकृतियाँ सामान्य बन्धयोग्य है और गुणस्थानो मे बन्धाधिकार के समान पहले से चौथे तक क्रमश ११७, १०१, ७४, ७७ प्रकृतियो का बन्धस्वामित्व है।

१३ सामायिक, छेदोपस्थानीय ये दो सयम छठे से नौवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानो मे पाये जाते है। इनमे आहारकद्विक का बन्ध सम्भव है। अत. छठे गुणस्थान की बधयोग्य ६३ प्रकृतियो के साथ आहारकद्विक को (६३+२) जोडने से सामान्य से ६५ प्रकृतिया बन्धयोग्य हैं और छठे, सातवे, आठवे, नौवे गुणस्थान मे क्रमश ६३, ५९।५८, ५८।५६।२६, २२।२१।२०।१९।१८ का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

१४ परिहारविशुद्धि सयम मे छठा और सातवा यह दो गुणस्थान है। इस सयम मे आहारकद्विक का उदय नही होता है, किन्तु बन्ध संभव है। अत बन्धयोग्य ६५ प्रकृतिया है और गुणस्थानो मे क्रमश· ६३, ५९।५८ का बन्धस्वामित्व समझना।

१५ सूक्ष्मसपराय सयम मे अपने नाम वाला सूक्ष्मसपराय नामक दसवा गुणस्थान एव देशविरत सयम मे अपने नाम वाला देशविरत नामक पांचवा गुणस्थान होता है। इन दोनो का बन्धस्वामित्व सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा अपने गुणस्थान मे बन्धयोग्य प्रकृतियो का है अर्थात् सूक्ष्मसपराय मे १७ और देशविरत मे ६७ प्रकृतिया बन्धयोग्य है।

१६ यथाख्यात चारित्र मे अन्तिम चार (उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगि केवली, अयोगि केवली) गुणस्थान हैं। इन चार गुणस्थानो मे से अयोगि केवली गुणस्थान मे बन्ध कारण का अभाव होने से किसी प्रकृति का बन्ध नही होता है किन्तु शेष तीन गुणस्थानों में बन्धाधिकार के अनुसार सामान्य व विशेष एक प्रकृति—साता वेदनीय—का बन्ध होता है।

१७ उपशम सम्यक्त्व चौथे से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक पाया जाता है। इस सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि आयुबन्ध नही होता है। चौथे गुणस्थान मे मनुष्यायु और देवायु का तथा पाँचवें आदि मे देवायु का बन्ध नही होने से चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियो मे से उक्त दो आयु को कम करने से सामान्य की अपेक्षा ७५ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। चौथे गुणस्थान मे भी ७५ प्रकृतियों का बन्ध जानना चाहिये। पाँचवे से सातवे गुणस्थान तक बन्धाधिकार मे बताई गई बन्ध सख्या मे से एक-एक प्रकृति को कम करने पर क्रमश ६६, ६२, ५८ प्रकृतियो का बन्ध होता है। इसके बाद आठवे से ग्यारहवे गुणस्थान तक बन्धाधिकार के अनुसार बन्धस्वामित्व है।

१८ वेदक (क्षायोपशमिक) मे आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान से उपशम या क्षपक श्रेणि का क्रम प्रारम्भ हो जाने से चौथे अविरति से लेकर सातवें अप्रमत्त विरति गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते है। इसमे आहारकद्विक का बन्ध सम्भव है, अत. चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियो के साथ आहारकद्विक को जोड़ने से ७९ प्रकृतियाँ सामान्य से बन्धयोग्य है और गुणस्थानो मे बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार से बताये गये अनुसार क्रमश. ७७, ६७, ६३, ५९।५८ प्रकृतियो का है।

१९ दर्शनमोह के क्षय से जन्य क्षायिक सम्यक्त्व में चौथे से चौदहवे तक ग्यारह गुणस्थान होते है। इसमे आहारकद्विक का बन्ध सम्भव होने से सामान्यरूप मे बन्धस्वामित्व ७९ प्रकृतियो का है और गुणस्थानो की अपेक्षा बन्धाधिकार मे गुणस्थानो के क्रम से क्रमश ७७, ६७, ६३, ५९।५८ आदि से १ प्रकृति पर्यन्त तेरहवे सयोगि केवली गुणस्थान पर्यन्त

समझना चाहिये। चोदहवा अयोगी केवली गुणस्थान बन्ध कारण न होने से अबन्धक है।

२० मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र दृष्टि ये तीन भी सम्यक्त्व मार्गणा के अवान्तर भेद हैं। इनमे अपने-अपने नाम वाला क्रमश पहला, दूसरा, तीसरा एक-एक गुणस्थान होता है। तीर्थंकर नाम और आहारकद्विक - आहारक शरीर, आहारक अगोपाग—इन तीन प्रकृतियो के बन्धयोग्य न होने से मिथ्यात्व मे ११७, सासादन मे १०१ और मिश्र दृष्टि मे ७४ प्रकृतियाँ सामान्य से बन्धयोग्य है।

२१ अभव्य जीवो के सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। मिथ्यात्व के कारण सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति न होने से तीर्थङ्कर और आहारकद्विक का बन्ध सभव नही है। इसलिये सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा ११७ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य है।

२२ असंज्ञी जीवो के पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान होते है। इनके सामान्य से और पहले गुणस्थान मे तीर्थङ्कर और आहारकद्विक का बन्ध नही होने से ११७ प्रकृतियो का तथा दूसरे गुणस्थान मे बन्धाधिकार के कथनानुसार १०१ प्रकृतियो का बन्ध होता है।

२३ आहारक मार्गणा मे सभी कर्मावृत ससारी जीवो का ग्रहण होने से पहले मिथ्यात्व से लेकर तेरहवे सयोगि केवली गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान है। इसका बन्धस्वामित्व सामान्य से और गुणस्थानो की अपेक्षा प्रत्येक मे बन्धाधिकार के कथनानुसार जानना चाहिये। अर्थात् सामान्य बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ है और गुणस्थानो मे ११७, १०१, ७४, ७७, ६७ आदि का क्रम सयोगि केवली तक का समझना चाहिये।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओं का बन्धस्वामित्व

[सा]मान्य बन्धयोग्य ११८ गुणस्थान —आदि के चार

[ब]न्धाधिकार में कही गई १२० प्रकृतियों ने आहारकद्विक से विहीन = ११८।

[गु]ण०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
	११७	१ तीर्थंकर नाम कर्म	×	बन्धाधिकार के समान १६
	१०१	×	×	बन्धाधिकार के समान २५
	७४	२ देव व मनुष्यायु	×	×
	७७	×	३ तीर्थंकर नाम देव व मनुष्यायु	

कृष्णादि तीन लेश्याओ में आहारकद्विक का वन्ध न मानने का कारण यह [है] कि इनका वन्ध सातवे गुणस्थान मे ही होता है और कृष्णादि तीन लेश्या[ए]ं अधिक से अधिक छठे गुणस्थान तक पाये जा सकते हैं। इसीलिये इन [ले]श्याओं के सामान्य से ११८ प्रकृतियो का वन्धस्वामित्व माना है।

[क]र्मग्रन्थो मे कृष्णादि तीन लेश्याओ के चौथे गुणस्थान में [...] बन्ध कहा है। और इनमे मनुष्यायु व देवायु का [...] [...] का मत है कि कृष्णादि तीन लेश्याओ के चौथे

मनुष्यायु और देवायु का बन्ध कहा है, वहाँ सिर्फ मनुष्यायु को बाँधते हैं परन्तु देवायु को नही बाधते है। अत ७७ की बजाय ७६ प्रकृतियो का बन्ध मानना चाहिये।

सिद्धान्त के उक्त मत का समाधान 'कर्मग्रन्थ मे कही नही किया गया है और बहुश्रुतगम्य कह कर छोड दिया है। लेकिन विचारणीय अवश्य है और जब तक इसका समाधान नही होता तब तक यह मानना पडेगा कि कृष्णादि तीन लेश्या वाले सम्यग्दृष्टि के जो प्रकृतिबन्ध मे देवायु की गणना है वह कर्म-ग्रन्थ सम्बन्धी मत है, सैद्धान्तिक मत नही है।

तेजोलेश्या का बन्धस्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १११ गुणस्थान—आदि के सात

नरकनवक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय विहीन = १११

गुण०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुन वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१०८	३ तीर्थंकर नाम आहारकद्विक	×	मिथ्यात्व, हुंडसस्थान, नपुंसक वेद, सेवार्त सह० एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप = ७
२	१०१	×	×	वन्धाधिकार के समान = २५
३	७४	२ देव व मनुष्य आयु	×	×
४	७७	×	३ तीर्थंकरनाम, देव व मनुष्यायु	वन्धाधिकार के समान १०
५	६७	×	×	वन्धाधिकार के समान ४
६	६३	×		वन्धाधिकार के समान ६/७
७	५९।५८	×	२ आहारकद्विक	×

पद्मलेश्या मे आदि के ७ गुणस्थान होते है, लेकिन इसके सामान्य वन्ध-स्वामित्व मे यह विशेपता हे कि तेजोलेश्या के नरकनवक के साथ एकेन्द्रिय त्रिक—एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप—का भी वन्ध नही होने से सामान्यवन्ध १०८ प्रकृतियो का हे और पहले गुणस्थान मे तीर्थङ्कर नाम और आहारक-द्विक यह तीन प्रकृतियाँ अवन्ध होने से १०५ प्रकृतियाँ वन्धयोग्य है। उनमे से मिथ्यात्व, हुड सस्थान, नपु सकवेद, सेवार्त सहनन इन चार प्रकृतियो का वन्धविच्छेद होने पर दूसरे गुणस्थान की वन्धयोग्य १०१ प्रकृतियाँ होती हैं। तीसरे से लेकर सातवे गुणस्थान का वन्ध वन्धाधिकार के समान समझना चाहिये ।

शुक्ललेश्या का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०४ गुणस्थान—पहले से तेरहवें तक

बन्धयोग्य प्रकृतियाँ—उद्योत नाम, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु तथा नरकत्रिक (पद्मलेश्या में बतलाई गई) विहीन=१०४

गु. बन्धयोग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१०१	३ तीर्थंकर नाम आहारकद्विक	×	नपुंसकवेद, हुंडसंस्थान, मिथ्यात्व, सेवार्तसंहनन =४
९७	×	×	बन्धाधिकार की २५ प्रकृतियों में से उद्योत चतुष्क न्यून =२१
७४	२ देव व मनुष्यायु	×	
७७	×	३ तीर्थंकर नाम, देव मनुष्यायु	बन्धाधिकार के समान १०
६७	×	×	बन्धाधिकार के समान ४
६३	×	×	बन्धाधिकार के समान ६।७
५९।५८	×	२ आहारकद्विक	बन्धाधिकार के समान १
५८	×	× × ×	बन्धाधिकार के समान २ बन्धाधिकार के समान ३० बन्धाधिकार के समान ४

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुन वन्ध	वन्ध-विच्छेद
६	२२	×	×	वन्धाधिकार के समान १
	२१	×	×	,, ,, १
	२०	×	×	,, ,, १
	१६	×	×	,, ,, १
	१८	×	×	,, ,, १
१०	१७	×	×	,, ,, १६
११	१	×	×	×
१२	१	×	×	×
१३	१	×	×	

मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व का वर्णन समाप्त

जैन-कर्मसाहित्य का संक्षिप्त परिचय

भारतीय तत्त्वचिंतन की मुख्य तीन शाखाए है—(१) वैदिक, (२) बौद्ध और (३) जैन। इन तीनो शाखाओ के वाड्मय मे कर्मवाद के सम्बन्ध मे विचार किया गया है। वैदिक एव बौद्ध साहित्य मे किया गया कर्म-सम्बन्धी विचार इतना अल्प है कि उसमे सिर्फ कर्म-विषयक विचार करने वाले कोई अलग ग्रन्थ नही है, यत्र-तत्र प्रासगिक रूप मे यत्किचित् विचार अवश्य किया गया है। लेकिन इसके विपरीत जैन वाड्मय मे कर्म-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते है। जिनमे कर्मवाद का क्रमबद्ध विकासोन्मुखी, पूर्वापर शृखलाबद्ध एव सुव्यवस्थित अतिव्यापक रूप मे विवेचन किया गया है। जैन-साहित्य मे कर्म-सम्बन्धी साहित्य का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और कर्मशास्त्र अथवा कर्मग्रन्थ के रूप मे प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र कर्मग्रन्थों के अतिरिक्त आगमो तथा उत्तरवर्ती आचार्यो द्वारा रचित ग्रन्थो मे यत्र-तत्र कर्मविषयक चर्चाएँ देखने को मिलती है।

कर्मसाहित्य का मूल आधार

जैन वाड्मय मे इस समय जो भी कर्मशास्त्र का सकलन किया गया है, उसमे से प्राचीन माने जाने वाले कर्मविषयक ग्रन्थो का साक्षात् सम्बन्ध श्वेताम्बर एव दिगम्बर—दोनो ही जैन परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्व से मानती है और आग्रायणीय पूर्व को दृष्टिवाद नामक बारहवे अग के अन्तर्गत चौदह पूर्वो मे से दूसरा पूर्व कहती है। दोनो ही परम्पराएं समान रूप से मानती है कि अग और चौदह पूर्व भगवान महावीर की विशद वाणी का [illegible] है। अर्थात् वर्तमान मे विद्यमान समग्र कर्मशास्त्र शब्द रूप से [illegible] भाव रूप से भगवान महावीर के साक्षात उपदेश का ही [illegible] है। इसीप्रकार से एक दूसरी मान्यता भी है कि वस्तुतः [illegible] [illegible] केवल भगवान महावीरकालीन ही नही, बल्कि पूर्व पूर्व [illegible] तीर्थंकरो से भी पूर्वकाल की है, अतएव अनादि है. किन्तु प्रवाह

रूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होने वाले तीर्थङ्करो द्वारा वे अग विद्याएं नवीन रूप धारण करती रहती है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्राचार्य ने प्रमाण मीमासा मे कहा है—

अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तारविवक्षया नवनवीभवन्ति, तत्तत् कर्तृकाश्चोच्यन्ते। किन्नाश्रोषीः न कदाचिदनीदृशं जगत्।

अनादिकाल से प्रवाहरूप मे चले आ रहे इस कर्मशास्त्र का भगवान भगवान महावीर से लेकर वर्तमान समय तक जो सकलन हुआ है, उसके निम्नलिखित तीन विभाग किये जा सकते हे—

(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (२) पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र ओर (३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र - यह भाग सबसे बडा और पहला है। इसका अस्तित्व पूर्व विद्या के विच्छिन्न होने के समय तक माना जाता है। भगवान महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास रूप मे पूर्व विद्या विद्यमान रही। चौदह पूर्वो मे से आठवां पूर्व कर्मप्रवाद है, जो मुख्यतया कर्म विषयक ही था। इसी प्रकार अग्रायणीय पूर्व नामक दूसरे पूर्व मे भी कर्मप्राभृत नामक एक भाग था। लेकिन वर्तमान श्वेताम्बर या दिगम्बर साहित्य मे पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का पूर्ण अश नही रहा है।

(२) पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र— यह विभाग पहले विभाग की अपेक्षा काफी छोटा है, लेकिन वर्तमान अभ्यासियो की दृष्टि से काफी बड़ा है। इसलिए इसे आकर कर्मशास्त्र यह सज्ञा दी है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्धृत है और श्वेताम्बर एव दिगम्बर—दोनो ही सम्प्रदायो के कर्मशास्त्र मे यह पूर्वोद्धृत अश विद्यमान है, ऐसी मान्यता है। साहित्य उद्धार के समय सम्प्रदायभेद रूढ हो जाने के कारण उद्धृत अश कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे—(१) कर्म प्रकृति, (१) शतक, (३) पच सग्रह, (४) सप्ततिका और दिगम्बर सम्प्रदाय मे—(१) महाकर्मप्रकृति प्राभृत, (२) कषाय प्राभृत। दोनो सम्प्रदाय अपने-अपने उक्त ग्रन्थो को पूर्वोद्धृत मानती है।

(३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र—यह विभाग तीसरी सकलना का परिणाम है। इसमे कर्मविषयक छोटे-बडे अनेक प्रकरण ग्रन्थो को सम्मिलित किया गया

है। आजकल विशेषतया इन्ही प्रकरण ग्रन्थो के अध्ययन-अध्यापन का प्रचलन है। इन प्रकरणग्रन्थो का अध्ययन करने के बाद पूर्वोद्धृत ग्रन्थो (आकर ग्रन्थो) का अध्ययन करने की परम्परा अभ्यासियो मे प्रचलित है। ये प्राकरणिक ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है और आकर ग्रन्थों का अभ्यास करने से पूर्व इनका अध्ययन करना जरूरी है।

यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र विक्रम की आठवी-नौवी शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्तरहवी शताब्दी तक निर्मित एव पल्लवित हुआ है।

सकलना की दृष्टि से कर्मशास्त्र के जैसे तीन तीन विभाग किये गए है, वैसे ही भाषा की दृष्टि से भी उसे तीन भागो मे विभाजित कर सकते है — (१) प्राकृत भाषा, (२) सस्कृत भाषा और (३) प्रचलित लोक भाषा।

पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र का आकलन प्राकृत भाषाओ मे हुआ है। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुत बडा भाग प्राकृत भाषा मे निबद्ध किया गया है तथा मूलग्रन्थों के अतिरिक्त उन पर टीका-टिप्पण भी प्राकृत भाषा मे लिखित है।

प्राकृत भाषा के अनन्तर जब सस्कृत भाषा साहित्य की भाषा बन गई और प्राय सस्कृत मे साहित्य का निर्माण व्यापक रूप मे होने लगा तो जैनाचार्यो ने भी सस्कृत मे कर्मशास्त्र की रचना की एव अधिकतर सस्कृत भाषा मे कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पण आदि लिखे। कुछ मूल प्राकरणिक कर्मग्रन्थ सस्कृत भाषा मे लिखे गये भी उपलब्ध होते है।

लोकभाषा मे मुख्यतया कर्णाटकी, गुजराती और राजस्थानी हिन्दी—इन तीन भाषाओ का समावेश होता है। इन भाषाओ मे भी कुछ मौलिक कर्मग्रन्थ लिखे गये है। लेकिन उनकी गणना अत्यल्प है। विशेषकर इन भाषाओ का उपयोग मूल तथा टीकाओ के अनुवाद करने मे ही किया गया है। ये टीका-टिप्पण, अनुवाद आदि प्राकरणिक कर्मशास्त्रो पर लिखे गये है। कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर साहित्यकारो ने लिया और गुजराती भाषा का श्वेताम्बर साहित्य मर्मज्ञो ने।

वर्तमान मे उपलब्ध कर्मसाहित्य का परिमाण लगभग सात लाख श्लोक [illegible] है और समय की दृष्टि से विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दि

से लेकर बीसवी शताब्दी तक का प्राप्त होता है। इस काल मे टीका, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति आदि के रूप मे आचार्यों ने कर्मशास्त्र को विस्तृतरूप दिया है।

जैन आचार्यों ने कर्मविषयक विचारणा व्यापक रूप मे की है। लेकिन भगवान महावीर का शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओ मे विभाजित हो जाने से यह विचारणा भी विभाजित-सी हो गई। सम्प्रदायभेद इतना कट्टर हो गया कि भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट कर्मतत्त्व पर मिलकर विचार करने का अवसर भी दोनो सम्प्रदायो के विद्वान प्राप्त न कर सके। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय मे मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दो, उनकी व्याख्याओ और कही-कही उनके तात्पर्य मे थोडा-बहुत भेद हो गया। इन भिन्नताओ पर तटस्थ दृष्टि से विचार करे तो भेद मे भी अभेद के दर्शन होते है और इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जैन दर्शन की मौलिक देन कर्मवाद की गरिमा को सुरक्षित रखने मे जैनाचार्य सर्वात्मना सजग रहे और कर्म-साहित्य के मूल हार्द को सुरक्षित रखा।

कतिपय प्रमुख कर्मग्रन्थ

वर्तमान मे उपलब्ध कर्मग्रन्थो अथवा जिनके होने का पता अन्य ग्रन्थो मे उल्लिखित उल्लेखो से लगता है,[1] उनका बहुत-सा-भाग अप्रकाशित है। लेकिन जो ग्रन्थ प्रकाश मे आये है, उनमे से भी जैन कर्मसाहित्य का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। प्रकाशित ग्रन्थो की सूची देखने से यह ज्ञात होता है कि मूल ग्रन्थ के भाष्य अथवा सस्कृत टीकाएँ प्रकाशित हुई है। प्रादेशिक भाषाओ मे रचित टीकाएँ अभी भी अप्रकाशित है।

प्रस्तुत प्रसंग मे प्रकाशित एव अध्ययन-अध्यापन मे अधिकतर प्रचलित कतिपय ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

कर्मप्रकृति

इस ग्रन्थ मे ४७५ गाथाएँ है,जो अग्रायणीय पूर्व नामक द्वितीय पूर्व के आधार पर सकलित की गई है। इस ग्रन्थ मे आचार्य ने कर्म सम्बन्धी बन्धन, सक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति और निकाचना—इन आठ

---

१ सटीकाश्चत्वार कर्मग्रन्था (मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सपादित)।

हुए लिखा है कि इसमें शतकादि पाँच ग्रंथों को संक्षेप में समाविष्ट किया गया है अथवा पाँच द्वारों का संक्षेप में परिचय दिया है। पाँच द्वारों के नाम क्रमश इसप्रकार है—

(१) योगोपयोग मार्गणा, (२) बन्धक, (३) बन्धव्य, (४) बन्धहेतु और (५) बन्धविधि।

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर हैं। ग्रंथकार ने योगोपयोग मार्गणा आदि पाँच द्वारों के नामों का उल्लेख तो अवश्य किया है, लेकिन इन द्वारों के आधारभूत शतक आदि पाँच ग्रंथ कौन-से हैं, इनका संकेत मूल एवं स्वोपज्ञ टीका में नहीं किया है। आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की अपनी टीका में स्पष्ट किया है कि ग्रन्थकार ने शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थों का समावेश किया है। इन पाँच ग्रन्थों में से कषायप्राभृत के सिवाय चार ग्रन्थों का आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में प्रमाण रूप से उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि कषायप्राभृत को छोड़कर शेष चार ग्रन्थ आचार्य मलयगिरि के समय में विद्यमान थे। इन चार ग्रन्थों में भी आज सत्कर्म अनुपलब्ध है और शेष तीन ग्रन्थ—शतक, सप्ततिका एवं कर्मप्रकृति इस समय उपलब्ध हैं।

पंचसंग्रहकार चन्द्रर्षि महत्तर के समय, गच्छ आदि का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में इतना-सा उल्लेख अवश्य किया है कि वे पार्श्वर्षि के शिष्य थे। इसी प्रकार महत्तर पद के विषय में भी किसी प्रकार का उल्लेख अपनी स्वोपज्ञ टीका में नहीं किया है। सम्भवत सामान्य प्रचलित उल्लेखों के आधार पर ही इन्हें महत्तर कहा गया है।

आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर के समय के विषय में यही कहा जा सकता है कि गर्गर्षि, सिद्धर्षि, पार्श्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि ऋषि शब्दान्त नाम विशेष कर नौवीं-दसवीं शताब्दि में अधिक प्रचलित थे, अत ये विक्रम की नौवीं-दसवीं शताब्दी में विद्यमान रहे हों। पंचसंग्रह और उसकी स्वोपज्ञ टीका के सिवाय चन्द्रर्षि महत्तर की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है।

पंचसंग्रह की व्याख्याएँ—पंचसंग्रह की दो महत्त्वपूर्ण टीकाएँ प्रकाशित

है—स्वोपज्ञ वृत्ति एव मलयगिरिकृत टीका। स्वोपज्ञ वृत्ति नौ हजार श्लोक प्रमाण तथा मलयगिरिकृत टीका अठारह हजार श्लोक प्रमाण है।

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ—देवेन्द्रसूरि रचित कर्मग्रन्थ नवीन कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं, जबकि उनके आधारभूत पुराने कर्मग्रन्थ प्राचीन कर्मग्रन्थ कहलाते है। इस प्रकार के प्राचीन कर्मग्रन्थो की सख्या छह है और ये शिवशर्मसूरि आदि भिन्न-भिन्न आचार्यो की कृतियाँ है। इनके नाम क्रमश इस प्रकार है—

(१) कर्मविपाक, (२) कर्पस्तव, (३) बन्धस्वामित्व, (४) षडशीति, (५) शतक, (६) सप्ततिका।

कर्मविपाक के कर्ता गर्गर्षि है। इनका समय सम्भवत विक्रम की दसवी शताब्दी हे। कर्मविपाक की तीन टीकाएँ उपलब्ध होती है—परमानन्द सूरि कृत वृत्ति, उदयप्रभसूरि कृत टिप्पण और एक अज्ञात कर्तृक व्याख्या। ये तीनो टीकाएँ विक्रम की वारहवी-तेरहवी शताब्दी की रचनाएँ प्रतीत होती है।

कर्मस्तव के कर्ता अज्ञात है। इस पर दो भाष्य एव दो टीकाएँ है। टीकाओ मे एक गोविन्दाचार्य कृत वृत्ति है और दूसरी उदयप्रभसूरि कृत टिप्पण के रूप मे है। इन दोनो का रचनाकाल सम्भवत विक्रम की तेरहवी शताब्दी है।

बधस्वामित्व के कर्ता भी अज्ञात है। इस पर हरिभद्रसूरि कृत वृत्ति हे, जो वि० स० ११७२ मे लिखी गई है।

षडशीति जिनवल्लभगणि की कृति है और रचना विक्रम की वारहवी शताब्दी मे हुई हे। इस पर दो अज्ञात कर्तृक भाषा और अनेक टीकाएँ है। टीकाकारो मे हरिभद्रसूरि व मलयगिरि मुख्य है। इसका अपरनाम आगमिक-वस्तुविचारसारप्रकरण है।

शतक के कर्ता शिवशर्मसूरि है। इस पर तीन भाष्य, एक चूर्णि व तीन टीकाएँ है। भाष्यो मे दो लघु भाष्य है और वृहत् भाष्य के कर्ता चक्रेश्वर-सूरि है। चूर्णिकार का नाम अज्ञात हे। तीन टीकाओ मे एक के कर्ता मल-धारी हेमचन्द्र (विक्रम की वारहवी शताब्दि), दूसरी के उदयप्रभसूरि और तीसरी के गुणरत्नसूरि (विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी) है।

सप्ततिका के कर्ता के विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता है। कोई चन्द्रर्षि महत्तर को इसका कर्ता मानते है और कोई शिव-शर्मसूरि को। इस पर अभयदेवसूरि कृत भाष्य, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, चन्द्रर्षि महत्तर कृत प्राकृत वृत्ति, मलयगिरि कृत टीका, मेरुतुगसूरि कृत भाष्यवृत्ति, रामदेव कृत टिप्पण व गुणरत्नसूरि कृत अवचूरि है।

इन छह ग्रन्थो मे प्रथम पाँच मे उन्ही विषयो का प्रतिपादन किया गया है, जो देवेन्द्रसूरि कृत पाँच नव्य कर्मग्रथो मे सार रूप से है। सप्ततिका (षष्ठ कर्म ग्रन्थ) मे निम्नलिखित विषयो का विवेचन किया गया है—

वन्ध, उदय, सत्ता व प्रकृतिस्थान, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ एव वन्ध आदि स्थान, आठ कर्मो के उदीरणा स्थान, गुणस्थान एव प्रकृति वन्ध, गतियाँ एव प्रकृतियाँ, उपशम श्रेणि व क्षपक श्रेणि तथा क्षपक श्रेणि आरोहण का अन्तिम फल।

नव्य कर्मग्रन्थ

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थो मे से पाँच कर्मग्रन्थो के आधार पर आचार्य देवेन्द्र सूरि ने जिन पाँच कर्म ग्रन्थो की रचना की है, वे नव्य कर्मग्रन्थ कहे जाते है। इन कर्मग्रन्थो के नाम भी वही है—कर्मविपाक, कर्मस्तव, वन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक। ये पाँचो कर्मग्रंथ क्रमश प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पचम कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध है। उपर्युक्त पाँच नामो से प्रथम द्वितीय और तृतीय नाम विषय की दृष्टि से और अन्तिम दो नाम गाथा सख्या की दृष्टि से रखे गये है।

पाँच नव्य कर्मग्रन्थो के रचयिता देवेन्द्रसूरि है। इन पाँच कर्मग्रथो की रचना का आधार शिवशर्मसूरि, चन्द्रर्षि महत्तर आदि प्राचीन आचार्यो द्वारा बनाये गये कर्मग्रथ है। देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थो मे केवल प्राचीन कर्म-ग्रन्थो का भावार्थ अथवा सार ही नही दिया है, अपितु नाम, विषय, वर्णन-क्रम आदि वाते भी उसी रूप मे रखी है। कही-कही नवीन विषयो का भी समावेश किया है। इन ग्रन्थो की भाषा प्राचीन कर्मग्रन्थो के समान प्राकृत है और छन्द आर्या है।

नव्य कर्मग्रन्थो की व्याख्याएँ—आचार्य देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थों पर स्वोपज्ञ टीका लिखी थी, किन्तु किसी कारण से तृतीय कर्मग्रथ की टीका नष्ट हो गई। इसकी पूर्ति के लिए वाद मे किसी आचार्य ने अवचूरि रूप नई टीका लिखी है। गुणरत्नसूरि व मुनिशेखरसूरि ने पाँचो कर्मग्रन्थो पर अवचूरियाँ लिखी है। इनके अतिरिक्त कमलसंयम उपाध्याय आदि ने भी इन कर्मग्रन्थो पर छोटी-छोटी टीकाएँ लिखी हैं। हिन्दी और गुजराती भाषा मे भी इन पर पर्याप्त विवेचन किया गया है।

हिन्दी भाषा मे महाप्राज्ञ पं सुखलाल जी की टीकाये करीब ४० वर्ष पूर्व लिखी गई थी। अव पुन. मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमलजी म० की व्याख्यासहित श्री श्रीचन्द्र सुराना 'सरस' एव श्री देवकुमार जैन द्वारा सपादित होकर प्रकाशित हो रहे है। इसमे अव तक प्रकाशित कर्मग्रन्थो से कुछ विशिष्टता है। दिगम्वर श्वेताम्वर मान्यताओ का तुलनात्मक अध्ययन एव अनेक प्रकार के यत्र व तालिकाएँ भी दी गई है।

कर्मप्राभृत

इसको महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, पट्खण्डागम आदि भी कहते है। इसके रचयिता आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि है। इसका रचना समय अनुमानत विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दि है।

यह ग्रन्थ ३६००० श्लोक प्रमाण है। इसकी भाषा प्राकृत (शौरसेनी) है। आचार्य पुष्पदन्त ने १७७ सूत्रो मे सत्प्ररूपणा अश और आचार्य भूतवलि ने ६००० सूत्रो मे शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ लिखा है। कर्मप्राभृत के छह खण्डो के नाम इसप्रकार है—

(१) जीवस्थान, (२) क्षुद्रक वन्ध, (३) वन्धस्वामित्वविचय (४) वेदना, (५) वर्गणा, (६) महावन्ध।

जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाएँ है। क्षुद्रकवध के ग्यारह अधिकार है। वन्धस्वामित्वविचय मे कर्म प्रकृतियो का जीवो के साथ वंध, कर्म प्रकृतियो की गुणस्थानो मे व्युच्छित्ति, स्वोदय वन्ध रूप प्रकृतियाँ, परोदय वन्ध रूप प्रकृतियो का कथन किया गया है। वेदना खण्ड मे कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वार है। वर्गणा खण्ड का मुख्य अधिकार वन्धनीय है, जिसमे वर्गणाओ का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमे

स्पर्श, कर्म, प्रकृति और वन्ध चार अधिकारो का भी अन्तर्भाव किया गया है।

तीस हजार श्लोक प्रमाण महावन्ध नामक छठे खण्ड मे प्रकृतिवध, स्थिति वन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्ध—इन चार प्रकार के वन्धो का वहुत विस्तार मे वर्णन किया गया है। महावन्ध की प्रसिद्धि महाधवला के नाम से भी है।

कर्मप्राभृत की टीकाएँ—वीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका कर्म प्राभृत (षट्खडागम) की अति महत्त्वपूर्ण वृहत्काय व्याख्या है। मूल व्याख्या का ग्रथमान ७२००० श्लोक प्रमाण है और रचना काल लगभग विक्रम सवत् ६०५ है।

इस व्याख्या के अतिरिक्त इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार मे कर्मप्राभृत की निम्नलिखित टीकाओ के होने का सकेत है। लेकिन वर्तमान मे ये टीकाएँ अनुपलब्ध है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कर्मप्राभृत के प्रथम तीन खण्डो पर परिकर्म नामक वारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रथ लिखा था। यह टीका ग्रन्थ प्राकृत मे था। धवला टीका मे इस ग्रन्थ का अनेक वार उल्लेख किया गया है।

आचार्य शामकुण्ड ने पद्धति नामक टीका ग्रन्थ कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डो पर लिखा था। कषायप्राभृत पर भी उनकी इसी नाम की टीका थी। इन दोनो टीकाओ का प्रमाण वारह हजार श्लोक प्रमाण है। भाषा प्राकृत-सस्कृत-कन्नड मिश्रित थी।

तुम्बुलूराचार्य ने भी कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खंडो तथा कषायप्राभृत पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम चूडामणि था। यह टीका चौरासी हजार श्लोक प्रमाण थी और भाषा कन्नड थी। इसके अतिरिक्त कर्मप्राभृत के छठे खण्ड पर प्राकृत मे पजिका नामक व्याख्या लिखी थी, जिसका परिमाण सात हजार श्लोक प्रमाण था।

समन्तभद्र स्वामी ने कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डो पर अडतालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी। धवला मे यद्यपि समन्तभद्र कृत आप्त-

मीमांसा आदि के अवतरण उद्धृत किये गये हैं, किन्तु प्रस्तुत टीका का उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता है।

बप्पदेव गुरु ने कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत पर टीकाएँ लिखी हैं। कर्म प्राभृत के पाँच खण्डों पर लिखी गई टीका का नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति था। षष्ट खण्ड पर उनकी व्याख्या संक्षिप्त थी, जो पचाधिक आठ हजार श्लोक प्रमाण थी। पाँच खण्डों और कषायप्राभृत का टीकाओं का संयुक्त परिमाण साठ हजार श्लोक प्रमाण था। भाषा प्राकृत थी।

कर्मप्राभृत की उपलब्ध टीका धवला के कर्ता का नाम वीरसेन है। वे आर्यनन्दि के शिष्य तथा चन्द्रसेन के प्रशिष्य थे। इनके विद्या गुरु एलाचार्य थे। कषायप्राभृत की टीका जयधवला के प्रारम्भ का एकतिहाई भाग भी इन्हीं वीरसेन का लिखा हुआ है।

यह धवला टीका कर्मशास्त्रवेत्ताओं के लिए द्रष्टव्य है।

कषायप्राभृत

कषायपाहुड अथवा कषायप्राभृत को पेज्जदोसपाहुड, प्रेयोद्वेष-प्राभृत अथवा पेज्जदोषप्राभृत भी कहते हैं।

कर्मप्राभृत के समान ही कषायप्राभृत का उद्गम स्थान भी दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग है। उसके ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवे पूर्व की दसवी वस्तु के पेज्जदोष नामक तीसरे प्राभृत से कषायप्राभृत की उत्पत्ति हुई है।

कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर है। इन्होने गाथा सूत्रों मे ग्रन्थ को निबद्ध किया है। वैसे तो कषायप्राभृत की २३३ गाथाएँ मानी हैं, परन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थ मे १८० गाथाएँ हैं और शेष ५३ गाथाएँ कषायप्राभृतकार गुणधराचार्यकृत न होकर संभवतः आचार्य नागहस्ति कृत हों, जो व्याख्या के रूप मे बाद मे जोडी गई हैं।

कषायप्राभृत मे जयधवलाकार के अनुसार निम्नलिखित १५ अर्थाधिकार हैं—

(१) प्रेयोद्वेष, (२) प्रकृतिविभक्ति, (३) स्थितिविभक्ति, (४) अनुभागविभक्ति, (५) प्रदेशविभक्ति—क्षीणाक्षीणप्रदेश—स्थित्यन्तिक

प्रदेश, (६) बन्धक, (७) वेदक, (८) उपयोग, (९) चतु स्थान, (१०) व्यजन, (११) सम्यक्त्व, (१२) देशविरति, (१३) सयम, (१४) चारित्रमोहनीय की उपशामना, (१५) चारित्रमोहनीय की क्षपणा।

इस स्थान पर जयधवलाकार ने यह भी निर्देश किया है कि इसी तरह अन्य प्रकारो मे भी पन्द्रह अर्थाधिकारो का प्ररूपण कर लेना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि कषायप्राभृत के अर्थाधिकारो की गणना मे एकरूपता नही रही है।

कषायप्राभृत की टीकाएँ—इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार के उल्लेख के अनुसार कषायप्राभृत पर निम्नलिखित टीकाएँ लिखी गई है—

(१) आचार्य यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्र, (२) उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणावृत्ति अथवा मूल उच्चारण, (३) आचार्य शामकुण्डकृत पद्धति टीका, (४) तुम्बुलूराचार्यकृत चूडामणि व्याख्या, (५) वप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति वृत्ति, (६) आचार्य वीरसेन जिनसेन कृत जयधवल टीका। इन छह टीकाओ मे से प्रथम चूर्णि व जयधवला ये दो टीकाएँ वर्तमान मे उपलब्ध होती है। यतिवृषभकृत चूर्णि छह हजार श्लोक प्रमाण तथा जयधवला टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण है।

गोम्मटसार

इसके दो भाग है—(१) जीवकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड। रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती है, जो विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी मे हुए है। ये चामुण्डराय के समकालीन थे।

गोम्मटसार की रचना चामुण्डराय, जिनका कि दूसरा नाम गोम्मटराय था—के प्रश्न के अनुसार सिद्धान्त ग्रन्थो के सार रूप मे हुई है, अत इस ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार रखा गया। इसका एक नाम पचसग्रह भी है, क्योकि इसमे बन्ध, बध्यमान, बन्धस्वामी, बन्धहेतु व बन्धभेद इन पाँच विषयो का वर्णन है।

गोम्मटसार मे १७०५ गाथाएँ है जिसमे से जीवकाण्ड मे ७३३ और कर्मकाड मे ९७२ गाथाएँ है। जीवकाण्ड मे महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड—इन पाच विषयो

का विवेचन है। इसमे गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, १४ मार्गणा और उपयोग इन बीस अधिकारो मे जीव की विविध अवस्थाओ का वर्णन किया गया है।

कर्मकाण्ड मे कर्म सम्बन्धी निम्न नौ प्रकरण है—

(१) प्रकृतिसमुत्कीर्तन, (२) वन्धोदय सत्व, (३) सत्वस्थान भग, (४) त्रिचूलिका, (५) स्थान समुत्कीर्तन, (६) प्रत्यय, (७) भाव चूलिका, (८) त्रिकरण चूलिका, (९) कर्मस्थितिरचना।

गोम्मटसार की टीकाएँ—गोम्मटसार पर सर्वप्रथम गोम्मटराय—चामुण्डराय ने कन्नड मे वृत्ति लिखी, जिसका अवलोकन स्वय नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने किया। इस वृत्ति के आधार पर केशववर्णी ने सस्कृत मे टीका लिखी। फिर अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मन्दप्रवोधिनी नामक संस्कृत टीका लिखी। इन दोनो टीकाओ के आधार पर प० टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामक हिन्दी टीका लिखी। इन टीकाओ के आधार पर जीवकाण्ड का हिन्दी अनुवाद श्री प० खूबचन्द्रजी ने व कर्मकाण्ड का अनुवाद श्री प० मनोहरलालजी ने किया है। श्री जे० एल० जैनी ने इसका अग्रेजी मे सुन्दर अनुवाद किया है।

लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित)

इसके रचयिता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती है। लब्धिसार मे कर्म से मुक्त होने के उपाय का प्रतिपादन किया है। लब्धिसार की ६४९ गाथाएँ है, जिनमे २६१ गाथाएँ क्षपणासार की है। इसमे तीन प्रकरण है—(१) दर्शनलब्धि, (२) चारित्रलब्धि, (३) क्षायिकचारित्र। इनमे क्षायिक चारित्र प्रकरण क्षपणासार के रूप मे स्वतन्त्रग्रथ भी गिना जाता है।

लब्धिसार पर केशववर्णी ने संस्कृत मे तथा प० टोडरमल्ल जी ने हिन्दी मे टीका लिखी है। संस्कृत टीका चारित्र लब्धि प्रकरण तक ही है। हिन्दी टीका मे प० टोडरमल्लजी ने चारित्रलब्धि प्रकरण तक तो संस्कृत टीका के अनुसार व्याख्यान किया है, किन्तु क्षायिक चारित्र प्रकरण, अर्थात् क्षपणासार का व्याख्यान माधवचन्द्र कृत संस्कृत गद्यात्मक क्षपणासार के अनुसार किया है।

अतः इन उल्लिखित ग्रथो का पूर्ण रूप से अध्ययन किया जाए तो कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

उक्त जानकारी के अनन्तर अभी तक मुद्रित ग्रन्थों के नाम, रचयिता, समय आदि का सक्षेप मे सकेत कर देना उचित होगा। इन ग्रथो मे श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो सम्प्रदायो के कर्मग्रन्थो का उल्लेख किया गया है —

ग्रंथनाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल
महाकर्मप्रकृति प्राभृत अथवा कर्मप्राभृत (षटखडशास्त्र)	पुष्पदन्त तथा भूतबलि	३६०००	अनुमानत. विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दि
धवला टीका	वीरसेन	७२०००	लगभग वि०स०६०५
कषायप्राभृत	गुणधर	गा० २३६	अनुमानत विक्रम की तीसरी शताब्दि
चूर्णि	यतिवृषभ	६०००	अनुमानत. विक्रम की छठी शताब्दि
जयधवला टीका	वीरसेन तथा जिनसेन	६००००	विक्रम की नौवीं दसवी शताब्दि
गोम्मटसार	नेमिचन्द्र–सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० १७०५	विक्रम की ग्यारहवी शताब्दि
सस्कृत टीका	केशववर्णी		
सस्कृत टीका	अभयचन्द्र		
हिन्दी टीका	टोडरमल्ल		विक्रम की १६ वी शताब्दि
लब्धिसार (क्षपण सार गर्भित)	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० ६५०	विक्रम की ग्यारहवी शताब्दि
सस्कृत टीका	केशववर्णी	—	
हिन्दी टीका	टोडरमल्ल		विक्रम की १६ वी शताब्दि
पंचसंग्रह (संस्कृत)	अमितगति	श्लो. १४५६	वि० स० १०७३
पंचसंग्रह (प्राकृत)		गा० १३२४	
पंचसंग्रह (संस्कृत)	श्रीपाल सुतडड्ढ	श्लो. १२४३	वि० १७ वी शताब्दि

ग्रन्थ-नाम	कर्ता	श्लोक प्रमाण	रचना काल
कर्मप्रकृति	शिवशर्मसूरि	गा० ४७५	संभवत विक्रम की ५ वी शताब्दि
चूर्णि		७०००	वि० की १२ वी श० से पूर्व
वृत्ति	मलयगिरि	८०००	वि० १२-१३ श०
वृत्ति	यशोविजय	१३००	वि० १८ वी श०
पंचसग्रह	चन्द्रर्षि महत्तर	गा० ९६३	
स्वोपज्ञ वृत्ति	,,	९०००	
बृहद्वृत्ति	मलयगिरि	१८८५०	विक्रम की १२-१३वी शताब्दि
प्राचीन षट कर्मग्रन्थ		गा० ५४७,५५१, ५६७	
(अ) कर्म विपाक	गर्गर्षि	गा० १६८	
वृत्ति	परमानन्दसूरि	९२२	वि० १२-१३ वी शताब्दी
व्याख्या		१०००	
(आ) कर्मस्तव		गा० ५७	
भाष्य		गा० २४,	
भाष्य		गा० ३२	सभवत. वि० स०
वृत्ति	गोविन्दाचार्य	१०९०	१२८८ से पूर्व
(इ) बन्ध-स्वामित्व	(गा० ५०)		
वृत्ति	हरिभद्रसूरि	५६०	वि० सं० ११७२
(ई) षडशीति	जिनवल्लभगणि	गा० ८६	
भाष्य		गा० ३८	
वृत्ति	हरिभद्रसूरि	८५०	वि० की १२वी शताब्दि
वृत्ति	मलयगिरि	२१४०	विक्रम की १२-१३ वी शताब्दि

ग्रन्थ-नाम	कर्ता	श्लोक प्रमाण	रचनाकाल
(उ) शतक	शिवशर्मसूरि,	गा० १११	
भाष्य		गा० २४	
बृहद् भाष्य	चक्रेश्वर सूरि	१४१३	वि० स० ११७९
चूर्णि		२३२२	
सप्ततिका	शिवशर्मसूरि अथवा चन्द्रर्षि महत्तर	७५	
भाष्य	अभयदेवसूरि	गा० १९१	विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दि
वृत्ति	मलयगिरि	३७८०	वि० की १२-१३ वीं श०
भाष्यवृत्ति	मेरुतुगसूरि	४१५०	वि० स० १४४९
सार्द्ध शतक	जिनवल्लभ गणि	गा० १५५	वि० १२ वीं शताब्दि
वृत्ति	धनेश्वर सूरि	३७००	वि० स० ११७१
नवीन पंच कर्मग्रन्थ	देवेन्द्रसूरि	गा० ३०४	वि० की १३-१४ वीं श०
स्वोपज्ञ टीका (बन्धस्वामित्व को छोड़कर)		१०१३१	वि० की १३-१४ वीं शताब्दि
बन्धस्वामित्व-अवचूरि		४२६	
षट् कर्मग्रन्थ बाला-वबोध	जयसोम	१७०००	वि० की १७ वीं शता०
भावप्रकरण	विजयविमल गणि	गा० ३०	वि० स० १६२३
स्वोपज्ञ वृत्ति	,,	३२५	,,
बन्धहेतूदयत्रिभंगी	हर्षकुलगणि	गा० ६५	वि० १६ वीं श०
वृत्ति	वानरर्षि गणि	११५०	वि० स० १६०२
बन्धोदयसत्ताप्रकरण	विजयविमल गणि	गा० २४	वि० १७ वीं श० का प्रारम्भ
स्वोपज्ञ अवचूरि	,,	३००	,,
कर्मसंवेद्यभंग प्रकरण	देवचन्द	४००	
संक्रमकरण	प्रेमविजयगणि		वि० स० १९८५

इस प्रकरण के लेखन मे जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४ (पा० वि० शो०स० वाराणसी) का आधार लिया गया है।

कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथाएँ

सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहि, जेणं तो भण्णए कम्मं ।।१।।

पगइठिइरसपएसा त चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ।
मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगई अडवन्नसय भेयं ।।२।।

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउ नामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ।।३।।

मइ-सुय-ओही-मण-केवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गह चउहा मणनयणविणिदिय चउक्का ।।४।।

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा ।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ।।५।।

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ।।६।।

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो ।
पाहुडपाहुड पाहुडवत्थू पुव्वा य स-समासा ।।७।।

अणुगामि वड्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही ।
रिउमइ विउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं ।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥९॥

चक्खूदिट्ठि अचक्खू सेसिंदिय ओहि केवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा ॥१०॥

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठस पयलपयला य चकमओ ॥११॥

दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी अद्धचक्कि अद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥

जियअजिय पुण्णपावासव संवरबन्धमुक्खनिज्जरणा ।
जेणं सद्दहइयं तयं सम्मं खइगाइबहुभेय ॥१५॥

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहजहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीय ॥१६॥

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविह चरित्तमोहणियं ।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा ।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥१८॥

जलरेणु पुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥

मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥२०॥

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥

पुरिसित्थि तदुभय पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ ।
थीनरनपुवेउदयो फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥२२॥

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिस नामकम्म चित्तिसमं ।
वायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

गइजाइतणुउवगा वन्धणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवण्णगन्धरसफास अणुपुव्वि विहगगई ॥२४॥

पिडपयडित्ति चउदस, परघा उस्सास आयवुज्जोय ।
अगुरुलहुतित्थनिमणोवघायमिय अट्ठपत्तेया ॥२५॥

तस वायर पज्जत्त पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च ।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इम ॥२६॥

थावर सुहम अपज्जं साहारण अथिर असुभ दुभगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय नामे सेयरा वीसं ॥२७॥

तसचउ थिरछक्क अथिरछक्क सुहमतिग थावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहिं पयडीहिं ॥२८॥

वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्कमिच्चाई ।
इय अन्नावि विभासा तयाइ सखाहि पयडीहिं ॥२९॥

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपचछ्च्छक्क ।
पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥३०॥

अडवीस-जुया तिनवइ संते वा पनरवंधणे तिसयं ।
वधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचउ ॥३१॥

इय सत्तट्ठी वंधोदए य न य सम्ममीसया वंधे ।
वंधुदए सत्ताए वीसदुवीसअट्ठवन्नसयं ॥३२॥

निरयतिरिनरसुरगई इगवियतिय चउपणिंदिजाइओ ।
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पणसरीरा ॥३३॥

वाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा ।
सेसा अगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥

उरलाइपुग्गलाणं निवद्धवज्झंतयाण संवन्धं ।
जं कुणइ जउसमं तं उरलाईवंधण नेयं ॥३५॥

जं संघायइ उरलाइ पुग्गले तणगणं व दंताली ।
तं संघायं वधणमिव तणुनामेण पंचविह ॥३६॥

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्तणा ।
नव बंधणाणिइयरदुसहियाण तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

सघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनाराय ।
तहय रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥३८॥

कीलिअ छेवट्ठं इहरिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडवंधो नाराय इममुरालंगे ॥३९॥

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुडं ।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसाय अंबिला महुरा ।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४१॥

नीलं कसिणं दुगंध तित्तं कडुय गुरुं खर रुक्ख ।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेस ॥४२॥

चउह गइव्वणुपुव्वीगइ पुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई ॥४३॥

परघाउदया पाणी परेसि बलिण पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥४४॥

रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहि लेहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥

अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइव्व ॥४६॥

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

अङ्गोवगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलं विगाईहिं ॥४८॥

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहि ॥४९॥

[illegible] तणू पत्ते उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं ॥
नाभुवरि सिराइ सुह सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

[illegible] [illegible]णी आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ ।
[illegible] [illegible]किती‍ओ थावरदसगं विवज्जत्थ ॥५१॥

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघऽभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाभे भोगुवभोगंसु वीरिए य ।।५२।।

सिरिहरियसमं जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईय एवं विग्घेण जीवो वि ।।५३।।

पडिणीयत्तण निन्हव उवघाय पओस अंतराएणं ।
अच्चासायणयाए आवरण दुगं जिओ जयइ ।।५४।।

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ।।५५।।

उम्मग्गदेसणामग्गनासणा देवदव्वहरणेहिं ।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइय संघाइ पडिणीओ ।।५६।।

दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइ विसय विवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ।।५७।।

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ ।
पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ।।५८।।

अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ।।५९।।

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्च ।
पकुणइ जिणाइ भत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ।।६०।।

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोय लिहिओ देविन्दसूरिहि ।।६१।।

।। प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथाएं समाप्त ।।

द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथायें

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं।
वन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥२॥

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस-सयं।
तित्थयराहारग-दुगवज्जं मिच्छंमि सतर-सयं ॥३॥

नरयतिग जाइथावरचउ, हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥४॥

अणमज्झागिइसंघयणचउ, निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउयअवन्धा ॥५॥

सम्मे सगसयरि जिणाउवंधि, वइर नरतिग वियकसाया।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअ कसायंतो ॥६॥

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥७॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारगदुगं बन्धे ॥८॥

अडवन्न अपुव्वाइमि निद्ददुगतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥९॥

समचउर निमिण जिण वण्णअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीसवधो हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

अनियट्ठि भागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहवन्धो ।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥११॥

चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
तिसु सायवन्ध छेओ सजोगि वन्ध तुणंतो अ ॥१२॥

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं ।
सतरसयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणऽणुदया ॥१३॥

सुहुम-तिगायव-मिच्छं मिच्छंतं सासणे इगारसयं ।
निरयाणुपुव्विणुदया अण-थावर-इगविगलअंतो ॥१४॥

मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा विय-कसाया ॥१५॥

मणुतिरिणुपुव्वि विउवट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ ।
सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया ॥१६॥

अट्ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा ।
थीणतिगाहारगदुग छओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥

सम्मत्ततिमसघयणतियगच्छेओ विसत्तरि अपुव्वे ।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ॥१८॥

संजलणतिगं छच्छेओ सट्ठि सुहममि तुरियलोभंतो ।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि रिसहनारायदुगअंतो ॥१९॥

सगवन्न खीण दुचरमि निद्ददुगंतो य चरमि पणपन्ना ।
नाणतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि वायाला ॥२०॥

तिथुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्ततिग छ संठाणा ।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥२१॥

दूसर सूसर सायासाएगयर च तीस वुच्छेओ ।
वारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥२२॥

तसतिग पणिंदि मणुयाउगइ जिणुच्चं ति चरमसमयता ।
उदउव्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥२३॥

एसा पयडि—तिगूणा वेयणियाऽहारजुगल थीण तिगं ।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगव ॥२४॥

सत्ता कम्माण ठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं ।
संते अडयालसयं जा उवसमु विजिणु वियतइए ॥२५॥

अपुव्वाइचउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु वियालसयं ।
सम्माइ चउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्त-सयमहवा ॥२६॥

खवगं तु पप्प चउसु वि पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा ।
सत्तग विणु अडतीस जा अनियट्टी पढमभागो ॥२७॥

थावर तिरि निरयायव दुग थीणतिगेग विगल साहारम् ।
सोलखओ दुवीससय वियंसि वियतियकसायंतो ॥२८॥

तइयाइसु चउदसतेरवार छपण चउतिहियसय कमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥२९॥

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ ।
नवनवइ चरम समए चउ दंसणनाण विग्घन्तो ॥३०॥

पणसीइ सयोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइ गंधदुगं।
फासट्ठ वन्नरस तणु वन्धण संघायपण निमिणं ॥३१॥

संघयणअथिरसंठाणं छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं।
साय व असायं वा परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥३२॥

विसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं।
सुभगजिणुच्चपणिदिय सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

नरअणुपुव्वि विणा वा वारस चरिम समयंमि जो खविउं।
पत्तो सिद्धिं देविन्दवंदियं नमह तं वीरं ॥३४॥

॥ द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथाएँ समाप्त ॥

तृतीय कर्मग्रन्थ की गाथाएं

वंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।
गइयाईसुं वुच्छं समासओ वंधसामित्तं ॥१॥

जिग सुरविउवाहारदु देवाउ य नरयसुहुमविगलतिग ।
एगिंदि थावराऽयव नपु मिच्छं हुड छेवट्ठं ॥२॥

अण मज्झागिइ संघयण कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिग ।
उज्जोयतिरि दुगं तिरि नराउ नर उर लदुगरिसह ॥३॥

सुरइगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण वंधहिं निरया ।
तित्थ विणा मिच्छि सय सासणि नपुचउ विणा छनुइ ॥४॥

विणु अणछवीस मीसे विसयरि सम्मम्मि जिणनराउ जुआ ।
इय रयणाइसु भंगो पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥५॥

अजिणमणुआउ ओहे सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे ।
इगनवई सासणे तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥६॥

अणचउवीसविरहिया सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।
सतरसउ ओहि मिच्छे पजतिरिया विणु जिणाहारं ॥७॥

विणु नरयसोल सासणि सुराउ अण एगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि सम्मे बीयकसाए विणा देसे ॥८॥

इय चउगुणेसु वि नरा परमजया सजिण ओहु देसाई ।
जिणइक्कारसहीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥६॥

निरय व्व सुरा नवरं ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया ।
कप्पदुगे वि य एवं जिणहीणो जोइभवणवणे ॥१०॥

रयण व्व सणंकुमाराई आणयाई उजोयचउरहिया ।
अपजतिरिय व्व नवसयमिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥११॥

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण विंति चउनवइं ।
तिरियनराऊहिं विणा तणुपज्जत्तिं न ते जंति ॥१२॥

ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा ।
मणवयजोगे ओहो उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥१३॥

आहारछग विणोहे चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं ।
सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ सुहुमतेर ॥१४॥

अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं ।
विणु तिरिनराउ कम्मे वि एवमाहारदुगि ओहो ॥१५॥

सुरओहो वेउव्वे तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से ।
वेयतिगाइम बिय तिय कसाय नव दु चउ पंच गुणा ॥१६॥

संजलणतिगे नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खु चक्खुसु पढमा अहखाइ चरमचऊ ॥१७॥

मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलिदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥१८॥

अड उवसमि चउ वेयगि खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस आहारगि नियनियगुणोहो ॥१६॥

पढमुवसमि वट्टंता आउ न बंधंति तेण अजयगुणे ।
देवमणुआउहीणो देसाइसु पुण सुराउ विणा ।।२०।।

ओहे अट्ठारसयं आहारदुगूण आइलेसतिगे ।
तं तित्थोणं मिच्छे साणाइसु सव्वहिं ओहो ।।२१।।

तेऊ नरयनवूणा उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का ।
विणु नरयबार पम्हा अजिणाहारा इमा मिच्छे ।।२२।।

सव्वगुणभव्वसन्निसु ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा ।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मभंगो अणाहारे ।।२३।।

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा चउ सग तेर त्ति बंधसामित्तं ।
देविन्दसूरिलिहियं नेयं कम्मत्थयं सोउं ।।२४।।

।। तृतीय कर्मग्रन्थ की गाथायें समाप्त ।।

कर्मग्रन्थ—भाग एक से तीन तक का

संक्षिप्त शब्द-कोश

अंग—शरीर, शरीर का अवयव ।

अंगपविट्ठ—अंगप्रविष्ट आचारांग आदि १२ आगम

अंगोवंग—अंग, उपांग, शरीर की रेखा, पर्व आदि

अंतमुहु (त्त)—अन्तर्मुहूर्त (एक समय कम ४८ मिनट)

अंतराअ—अन्तराय, विघ्न, रुकावट

अकामनिज्जर—अकामनिर्जर (बिना इच्छा के कष्ट सहन कर कर्म-निर्जरा करने वाला)

अगारविल्ल—निरभिमान

अगुरुलहु—अगुरुलघु नामकर्म

अगुरुलहुचउ - अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नामकर्म

अचक्खु—अचक्षुदर्शन

अच्चासायणया—अवहेलना, उपेक्षा, आशातना

अजय—अयत—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव

अजयगुण—अयत गुणस्थान

अजयाइ -अविरत सम्यग्दृष्टि आदि

अजस—अयश कीर्ति नामकर्म

अजिय—अजीव

अजिणाहार—अजिनाहारक-जिननामकर्म तथा आहारक-द्विक रहित

अजिन मणुआउ—अजिन मनुष्यायुप्—तीर्थकर नामकर्म तथा मनुष्यायु छोडकर

अट्ठि—अस्थि, हड्डी

अट्ठवन्न—अट्ठावन ५८

अट्ठारसय—अष्टादशशत (११८)

अट्ठावण्णा—अट्ठावन ५८

अड—अष्ट - आठ

अडयालसय—एकसौ अड़तालीस १४८

अडवन्न—अट्ठावन ५८

अडवीस—अट्ठाईस २८

अण—अनन्तानुवन्धी कषाय

अणएकतीस—अनैकत्रिंशत्-अनन्तानुवन्धी आदि ३१ प्रकृतिया

अण चउवीस—अनन्तानुवन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ

अणछवीस—अनषड्विंशति-अनन्तानुवन्धी आदि २६ प्रकृतियाँ

अणाइज्ज—अनादेय नामकर्म

अणाहार—अनाहारक मार्गणा

अणुपुव्वी—आनुपूर्वी नामकर्म

अणुसिण—अनुष्ण (शीतल)

अत्थुग्गह - अर्थावग्रह

अथिर—अस्थिर नामकर्म

अथिरछक्क—अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, नाम-

अद्ध—आधा भाग

अद्धनाराय—अर्धनाराच संहनन

अन्नह—अन्यथा

अनाणतिग—अज्ञानत्रिक-मति आदि तीन अज्ञान

अनियट्टि—अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान

अपच्चक्खाण—अप्रत्याख्यानावरण कषाय

अपज्ज—अपर्याप्त नामकर्म। अपर्याप्त जीव

अपत्ति—समय प्राप्त न होने पर

अपमत्त—अप्रमत्त विरत गुणस्थान

अयोगि—अयोगि केवली गुणस्थान

अरइ—अरति मोहनीय

अवलेहि—बांस का छिलका

अवाय—मतिज्ञान का अपाय नामक भेद

अविरय—अविरत सम्यग्दृष्टि। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

असंनि—असंज्ञी

असाय—असातावेदनीय

असुभ (असुह)—अशुभ नामकर्म

असुहनवग—कृष्ण, नील वर्ण, दुर्गन्ध, तिक्त, कटु रस, गुरु, खर, रूक्ष, शीत स्पर्श, यह नौ प्रकृतियाँ अशुभनवक कहलाती हैं।

अहक्खाय चरित्त—यथाख्यात चारित्र

आइ—आदि, पहला, प्रथम

आइज्ज—आदेय नामकर्म

आइलेसतिग—आदि लेश्यात्रिक—कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ

आउ—आयुकर्म

आणयाइ—आनत आदि देवलोक

आयव—आतप नामकर्म

आवरणदुग—आवरणद्विक (ज्ञानावरण, दर्शनावरण)

आसव—आस्रव तत्त्व

आहारग (आहारय)—आहारक शरीर नामकर्म । आहारक शरीर

आहारदु—आहारकद्विक नामकर्म

आहार-दुग—आहारक तथा आहारक मिश्रयोग अथवा आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग

आहार-छग—आहारक-षट्क, आहारक आदि छह प्रकृतियाँ

इगचत्त—इकतालीस (४१)

इगनवइ—एकनवति—इकानवे (९१)

इगसऊ—एक सौ एक (१०१)

इगसी—इक्यासी (८१)

इगहिय सय—(एकाधिकशत) एक सौ एक (१०१)

एगिंदि (एगिंदि)—एकेन्द्रिय जाति

एगिंदि-तिग—एकेन्द्रिय-त्रिक—एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियाँ

इन्दिय चउक्क—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र यह चार इन्द्रिया

इत्थी—स्त्री, स्त्रीवेद नामकर्म

उच्च—उच्चगोत्र

उज्जोअ—उद्योत नामकर्म

उज्जोअ-चउ—उद्योत आदि चार प्रकृतियां

उज्जोया—उद्योत नामकर्म

उसिण—उष्ण स्पर्श नामकर्म

[illegible]—[illegible]विरु[illegible]—स्वच्छन्द

उयर—पेट

उर—छाती, वक्षस्थल

उरल—औदारिक – स्थूल, औदारिक काययोग

उरल-दुग—औदारिकद्विक नामकर्म

उरालंग—औदारिक शरीर

उवंग—उपाग, अगुली आदि शरीर के अंग

उवघाय—उपघात नामकर्म, नाश

उवसम – औपशमिक सम्यक्त्व। उपशान्तमोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

उस्सास—उच्छ्वास नामकर्म

उसिणफास—उष्ण स्पर्श नामकर्म

ऊरु—जघा

ऊससणलद्धि—श्वासोच्छ्वास की शक्ति

ऊसासनाम – उच्छ्वास नामकर्म

एगयर—किसी एक का

ओराल—औदारिक शरीर नामकर्म। औदारिक शरीर

ओह—ओघ—सामान्य

ओहि – अवधिदर्शन। अवधिज्ञान

ओहि-दुग—अवधि-द्विक

ओहेण—सामान्य रूप से

कडु—कटुक रस नामकर्म

कप्पदुग—कल्प-द्विक—१-२ देवलोक

कम्म-(कम्मण)—कार्मण काय योग

करण—इन्द्रिय

कसाय—कषाय मोहनीय कर्म, कषायरस नामकर्म

कसिण—कृष्णवर्ण नामकर्म

किण्ह—कृष्ण वर्ण नामकर्म

कीलिया—कीलिका सहनन नामकर्म। खीला

कुखग—अशुभ विहायोगति नामकर्म

कुच्छा—घृणा

केवल-दुग (केवल)—केवलज्ञान, केवलदर्शन

केवलि—केवलज्ञानी:

कोह—क्रोध कषाय

खीण—क्षीणमोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

खंति—क्षमा

खंधा—मिलाने से

खइअ—क्षायिक सम्यक्त्व

खओ—क्षय होने से

खगइ—क्षायिक

खग्ग—तलवार

खर—खर स्पर्श नामकर्म

खुज्ज—कुब्जसंस्थान

गइ—गति नामकर्म

गइतस—गतित्रस—तेजस्काय, वायुकाय

गणिय—गणितकृत

गुण—गुणस्थान

गुणसट्ठि—उनसठ ५९

गुरु—गुरु स्पर्श नामकर्म। [illegible]

गूढहियअ—कपटी

गोय—गोत्र कर्म

चउनवइ—चौरानवे (६४)

चउव्विहो—चार प्रकार का

चउसयरि—चौहत्तर ७४

चउहा—चार प्रकार का

चक्खु—चक्षु दर्शन अथवा आख

चरणमोह—चारित्र मोहनीय कर्म

चरित्त मोहणिय—चारित्र मोहनीय

छक्क—छह (६) का समूह

छच्छेओ—छह का क्षय होने से

छद्धा—छह प्रकार का

छनुइ (छनवइ)—षण्णवति—छियानवै (९६)

छपन्न—छप्पन (५६)

छलंसि—छठे भाग मे

छसट्ठि—छियासठ (६६)

छस्सयरि—छियत्तर (७६)

छहा छह प्रकार का

छेअ—छेदोपस्थानीय चारित्र

छेवट्ट—सेवार्तसहनन

जइ—साधु

जउ—लाख

जयाइ—प्रमत्त सयत आदि गुणस्थान

जस—यश कीर्ति नामकर्म

जाइ—जाति नामकर्म

जिअ—आत्मा

जिण-पणग—जिन आदि पाच प्रकृतियां

जिण-इक्कारस (जिणिक्कार)—जिन आदि ग्यारह प्रकृतिया

जिय—जीव तत्त्व

जीय—जीव

जीव—आत्मा

जुअ—युत—सहित

जोइ—ज्योतिषीदेव

जोइस—चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष मडल

जोग—सयम

जोगि—सयोगि केवली

ठिइ—स्थिति, स्थितिबन्ध

णुदया—उदय न होने से

तइयाइसु—तीसरे आदि भागो मे

तणु—शरीर अथवा शरीर नामकर्म

तणुतिग—तीन शरीर

तणुपज्जत्ति—शरीर पर्याप्ति

तम्मिस्स—तन्मिश्र—तद् मिश्र काययोग (अमुक काययोग के साथ अमुक का मिश्र)

तस—त्रसनिकाय

तस—त्रस नामकर्म

[illegible]—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक—नामकर्म की चार प्रकृतिया

तसदसग—नामकर्म की त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति ये १० प्रकृतिया।

ति—तीन (३)

तिग—तीन का समूह

तिणिसलया—बैंत

तित्त—तिक्त रस नामकर्म

तित्थ (तित्थयर)—तीर्थंकर नामकर्म

तिन्नि—तीन

तिय कसाय—तीसरा कषाय—प्रत्याख्यानावरण कषाय

तिरि—तिर्यंच

तिरिदुग—तिर्यंच-द्विक

तिरिनराउ (तिरियनराउ)—तिर्यंच आयु तथा मनुष्य आयु

तिरियाउ—तिर्यंचायु

तेअ—तेजस्काय अथवा तेजोलेश्या

तेय—तैजस शरीर

थावर—स्थावर

थावरचउक्क—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, यह—चार प्रकृतिया

थावरदस—स्थावर आदि दस प्रकृतिया

थिर—स्थिर नामकर्म

थिरछक्क—स्थिर आदि छह प्रकृतिया

थी—स्त्री

थीणतिग—स्त्यानर्द्धित्रिक (प्रचला, प्रचला-प्रचला एव स्त्यानर्द्धि-निद्रा के तीन भेद)

क निद्रा विशेष

नराउ—मनुष्य आयु

नवनवइ—निन्यानवें (९९)

नाण - ज्ञान

नाम—नामकर्म

नाराय—नाराच संहनन । दोनों ओर मर्कट बन्ध रूप अस्थि रचना

निग्गोह—न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान

निचअ—रचना

निउज्जोय—नीचगोत्र उद्योतनाम

निण्हव—छिपाना, अपलाप करना

निम्माण (निमिण)-- निर्माण नामकर्म

निय (नीय)—अपना अथवा नीचगोत्र

नियट्टि—निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान

निरय—नरक, नारक (नरक के जीव)

नेय—जानने योग्य

नोकसाय नोकषाय मोहनीय

पंकाइ—पंकप्रभा आदि नरक

पइ—तरफ, ओर

पएस—प्रदेशबन्ध

पओस—अप्रीति (प्रद्वेष)

पच्चक्खाण—प्रत्याख्यानावरण कषाय

पज्जत्त—पर्याप्त नामकर्म

पज्जत्ति—पर्याप्ति (पुद्गलोपचय-जन्य शक्तिविशेष)

पज्जय—पर्याय, पर्यायश्रुत

पट्ट—वेठन

पड—पट्टी

पडिणीयत्तण—शत्रुता

पडिवत्ति—प्रतिपत्ति श्रुत

पडिवाइ—प्रतिपाति अवधिज्ञान

पणयालं—पैंतालीस (४५)

पणवन्ना—पचपन (५५)

पणसीइ—पचासी (८५)

पणिंदि—पचेन्द्रिय

पत्तेय—प्रत्येक नामकर्म। अवान्तर भेदरहित प्रकृति

पत्तेय तणु—प्रत्येक तनु (जिसका स्वामी एक जीव है, वैसा शरीर)।

पप्प—प्राप्त करके

पमत्त—प्रमत्तविरत गुणस्थान

पम्हा—पद्मलेश्या

पय—पदश्रुत

पयइ—स्वभाव। प्रकृतिबन्ध

पयडि—कर्मप्रकृति

परघाय—पराघात नामकर्म

परित्त—प्रत्येक नामकर्म

परिहार—परिहारविशुद्धि चारित्र

पाणि—जीव

पाहुड—प्राभृत श्रुत

पिंडपयडि—पिण्ड प्रकृति (अवान्तर भेद वाली प्रकृति)

पुम—पुरुषवेद

पुपुला—घास की आग

फास—स्पर्श नामकर्म

बंध—बन्धतत्त्व, बंधप्रकरण

बंधण – बन्धन नामकर्म

बन्ध-विहाण – बन्ध करना

बज्झंतय—वर्तमान में बंधने वाला

बायर—बादर नामकर्म । स्थूल

बायाल—बयालीस (४२)

बिय (बि)—दो (२)

बियाल सयं—एक सौ बयालीस (१४२)

बिसयरि (बिसत्तरि) – द्विसप्तति – बहत्तर (७२)

बीअ कषाय—दूसरा कषाय—अप्रत्याख्यानावरण कषाय

भवण—भवनपतिदेव

भूंभल – मद्यपात्र

मइ—मतिज्ञान

मइ-सुअ—मति एवं श्रुतज्ञान

मक्कड बन्ध मर्कट के समान बन्ध

मज्झागिअ—मध्याकृति—बीच के संस्थान

मण—मन, मन पर्यायज्ञान

मणनाण—मन पर्यायज्ञान

मण वयजोग – मन-योग तथा वचनयोग

मणु (मणुअ)—मनुष्य, मनुज

महुर—मधुर रस नामकर्म, मीठा

माणस—मन

मिउ—मृदुस्पर्श नामकर्म

मिढ—भेड

मिच्छ (मिच्छे)—मिथ्यात्व मोहनीय अथवा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

मिच्छत्त—मिथ्यात्व मोहनीय

मिच्छतिग—मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थान

मिच्छ-सम – मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के तुल्य

मिच्छा—मिथ्यात्व मोहनीय

मीस (मीसय,मीसे)—मिश्र मोहनीय, मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थान

मीस-दुग—मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

मुक्ख—मोक्ष

मूलपगइ—मुख्यप्रकृति

रअ—आसक्त

रइ—प्रेम, अनुराग, रति नामकर्म

रयणाइ (रयण) – रत्नप्रभा आदि नरक

राई—रेखा, लकीर

रिउमइ—ऋजुमति मन पर्यायज्ञान

रिसह—ऋषभ (पट्ट वेठन) अथवा ऋषभनाराच संहनन

रिसहनाराय—ऋषभनाराच संहनन

रुक्ख—रूक्षस्पर्शनामकर्म

लंबिगा—पडजीभ

लहुय—हलका

लिहिय—लिखा हुआ

लिहण—चाटना

लोह—लोभ, ममता

लोहिय—लोहितवर्ण नामकर्म

वंसिमूल——बाँस की जड़ (मायाकषाय के एक भेद की उपमा)

वइर——वज्रऋषभ नाराच संहनन

वज्ज——खीला

वज्जं——छोडकर के

वज्जरिसहयनाराय——वज्रऋषभ नाराच संहनन

वंजणवग्ग——व्यंजनावग्रह, मतिज्ञान

वट्टंत——वर्तमान

वड्ढमाणय——वर्धमान (अवधिज्ञान का भेद विशेष)

वण——वाणव्यन्तर देव

वण्ण——वर्ण नामकर्म

वन्न——वर्ण नामकर्म

वस——वैल । अधीनता

वामण——वामन संस्थान

विउव्व (वेउव्व)——वैक्रिय शरीर नामकर्म तथा वैक्रिय काययोग

विउवट्ठ——वैक्रिय अष्टक (वैक्रिय शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ)

विग्घ——विघ्न, अन्तराय कर्म

विगल——विकलेन्द्रिय

विगलतिग——विकलत्रिक

विजिणु——छोडकर

वित्ति——दरबान

विभासा——परिभाषा-संकेत

विमलमइ——विमलमति मन पर्यायज्ञान

विवज्जत्थ——(विवज्जय-विवरीय) विपरीत, उलटा

विवाग——विपाक, फल (प्रभाव, असर)

विहगगइ—विहायोगति नामकर्म

वुच्छेओ—क्षय होने से

वेअ—वेदमोहनीय

वेद-तिग—स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद

वेय—वेदनीय कर्म

वेयण—भोगना, अनुभव करना

वेयणिय—वेदनीय कर्म

संघयण—सहनन नामकर्म। हड्डी की रचना

संघाय—सघात श्रुतज्ञान। सघात नामकर्म

संघायण—सघात नामकर्म

संजलण—सज्वलन कषाय

संजलणतिग—सज्वलन क्रोध, मान, माय।

संठाण—सस्थान नामकर्म

संत—सत्ता

संनि—सज्ञी (मनवाला), संज्ञीमार्गणा

सम—अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान

सग—अपना

सगवन्न—सत्तावन (५७)

सगसयरि—सतहत्तर (७७)

सगसीइ—सत्तासी (८७)

स-ठाणा—स्व-अपना गुणस्थान

सणकुमाराइ—सनत्कुमारादि देवलोक

सतणु—अपना शरीर

[illegible]—[illegible] प्रकृतियों [illegible] समूह

[illegible]

सतसउ—सप्तदशशत—एक सौ सत्रह (११७)

सपज्जवसिय—अन्तसहित

सपडिवक्ख—विरोधी सहित

समइअ—सामायिक चारित्र

समचउर—(समचउरस)—समचतुरस्र संस्थान

सम्म—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्व मोहनीय

समास—संक्षेप

सयरि—सत्तर (७०)

सयोगि—सयोगिकेवली गुणस्थान

सव्वविरई—सर्वविरति चारित्र

ससल्ल—माया आदि शल्य सहित

सहिय—सहित

साइ—सादि संस्थान

साइय—आदि सहित

सामन्न—निराकार

साय—सातावेदनीय (सुख)

सायासाएगयर—साता असाता मे से कोई एक

सासण (सासाण)—सास्वादन गुणस्थान

साहारण—साधारण नाम कर्म

सिणिद्ध—स्निग्धस्पर्श नामकर्म

सिय—सित नामकर्म (सफेद, श्वेत)

सीअ (सीय)—शीतस्पर्श नामकर्म

सुक्क—शुक्ललेश्या

सुखगइ—शुभ विहायोगति

सुभ—सुन्दर, अच्छा, शुभ नामकर्म

सुभग—सुभग नामकर्म

सुय—श्रुतज्ञान

सुरइगुणवीस—सुरैकोनविशति—देवगति आदि १९ प्रकृतियाँ

सुरहि—सुरभिगंध नामकर्म

सुराउ—देवायु

सुसर—सुस्वर नामकर्म

सुह—शुभ नामकर्म, सुखप्रद, सुख

सुहुम—सूक्ष्म नामकर्म । सूक्ष्मसंपराय चारित्र । सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान ।

सुहुमतिग—सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण नामकर्म) ।

सुहुमतेर—सूक्ष्म नामकर्म आदि तेरह प्रकृतिया

सूसर—सुस्वर नामकर्म

सेयर—स-इतर—स-प्रतिपक्ष

सेलत्थंभो—पत्थर का खम्भा (मान कषाय के एक भेद की उपमा)

हुडि—बेटी

हलिद्द—हारिद्र नामकर्म

हवइ—है, होता है

हवेइ—होता है

हास—हँसी

हास—हास्य मोहनीय

हुंड—हुंड संस्थान

हेउ—हेतु, कारण

होइ—होता है

३ शा० लादूराम जी छाजेड, ब्यावर (राजस्थान)

४ शा० चपालाल जी डूंगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)

५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावं

६ शा० नादमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चाव

७ जे० वस्तीमल जी जैन, जयनगर, बेंगलोर ११ (पूजलू).

८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, ब्यावर

९ शा० बालचंद जी रूपचंद जी बाफना,
११८।१२० जवेरी बाजार बम्बई—२ (सादडी निवासी)

१० शा० बालावगस जी चपालाल जी बोहरा, राणीवाल

११ शा० केवलचद जी सोहनलाल जी बोहरा राणीवाल

११ शा० अमोलकचंद जी धर्मीचद जी आच्छा, वडाकाचीपुरम्.मद्रास
(सोजत रोड)

१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी बाफना, तिरकोयलूर, मद्रास (आगेव

१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादडी)

१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज

१६ शा० सिमरतमल जी सखलेचा, मद्रास (बीजाजी का गुडा)

१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)

१८ शा० गूदड़मल जी शांतिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास

१९ शा० चपालाल जी नेमीचद, जबलपुर (जैतारण)

२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, ब्यावर

२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड-मादलिया

२२ शा० हीराचद जी लालचद जी धोका, नक्साबाजार, मद्रास

२३ शा० नेमीचद जी धर्मीचद जी आच्छा, चगलपेट, मद्रास

२४ शा० एच० घीसुलाल जी, पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N A D
(बगडी-नगर)

२५ शा० घीसुलाल जी पारसमल जी सिघवी, चागलपेट, मद्रास

२६ शा० अमोलकचद जी भवरलाल जी विनायकिया, नक्शाबाजार, मद्रा

२७ शा० पी० बीजराज नेमीचद जी धारीवाल, तीरुवेलूर

५३ शा० जेठमल जी चोरड़िया C/o महावीर ड्रग हाऊस न १४ वानेश्वरा टेम्पल-स्ट्रीट ५ वा क्रोस आरकाट श्रीनिवासाचारी रोड, पो० ७६४४, बैंगलोर ५३

५४ शा० सुरेन्द्र कुमार जी गुलावचंद जी गोठी मु० पो० घोटी, जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीमल जी उत्तमचद जी ४२४/३ चीकपेट-बेंगलोर २ A.

५६ शा० एच० एम० काकरिया २६६, O.P H. रोड, बेंगलोर १

५७ श० सन्तोशचद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर नेहरू वाजार न० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १

५९ मदनलाल जी राका (वकील) ब्यावर

६० पारसमल जी राका C/o वकील भवरलाल जी राका ब्यावर

६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जागडा नयामोडा, जालना (महाराष्ट्र)

६२ शा० एम० जवाहरलाल जी वोहरा ६९ स्वामी पन्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधरपेट, मद्रास २

६३ शा० नेमीचद जी आनन्दकुमार जी राका C/o जोहरीलाल जी नेमीचद जी जैन, वापूजी रोड, सलूरपेठ (A P.)

६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट पुडुपेट मद्रास २

६५ चैनराज जी सुराणा गाधी वाजार, शिमोगा (कर्नाटक)

६६ पी० वस्तीमल जी मोहनलाल जी वोहरा (जाडण) रावर्टसन पेठ (K G F)

६७ सरदारमल जी उमरावमल जी सचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)

६८ चपालाल जी मीठालालजी सकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)

६९ पुखराज जी ज्ञानचदजी मुणोत, मद्रास

७० सपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास

७१ चपालाल जी उत्तमचद जी गाधी जवाली, मद्रास

७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड, सीकन्द्राबाद (रायपुर वाले)

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचंद जी श्रीश्रीमाल ब्यावर
२ श्री सूरजमल जी इन्दरचंद जी मकलेचा, जोधपुर
३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचंद जी नम्बरिया, चौधरी चौक, कटक
४ श्री घेवरचंद जी रातडिया, रावर्टसनपेठ
५ श्री बगतावरमल जी अचलचंद जी खीवसरा ताम्बरम्, मद्रास
६ श्री छोगमल जी माणकचंद जी खीवसरा, बाँपारी
७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भंडारी, नीमली
८ श्री माणकचंद जी गुलेछा, ब्यावर
९ श्री पुखराज जी बोहरा, राणीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
१० श्री धर्मीचंद जी बोहरा, जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चंडावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, बिलाडा
१३ श्री सुगनराज जी मुणोत मारवाड जक्शन
१४ श्री रतनचंद जी शान्तीलाल जी मेहता, सादडी (मारवाड)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, बिलाडा
१६ श्री चंपालाल जी नेमीचंद जी कटारिया, बिलाडा
१७ श्री गुलाबचंद जी गंभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डहाणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भंवरलाल जी गौतमचंद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री [illegible] जी भीकमचंद जी [illegible], कुशालपुरा
२० श्री [illegible] जी भंवरलाल जी बोहरा, कुशालपुरा
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

२५ श्री दुलराज इन्दरचन्द जी कोठारी
११४, तैयप्पा मुदली स्ट्रीट, मद्रास-१

२६ श्री गुमानमल जी मागीलाल जी चौरडिया चिन्ताधरी पैठ मद्रास-१

२७ श्री मायरचन्द जी चौरडिया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१

२८ श्री जीवराज जी जवरचन्द जी चौरडिया, मेड़तासिटी

२९ श्री हजारीमल जी निहालचन्द जी गादिया, १६२ कोयम्बतूर, मद्रास

३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली

३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आच्छा, मु० कावेरी पाक

३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर

३३ श्री चंपालाल जी भवरलाल जी सुराना, कालाऊना

३४ श्री मागीलाल जी शकरलाल जी भसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-१२

३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंघी,
११ बाजार रोड, राय पेठ मद्रास-१४

३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम

३७ शा० रामसिह जी चौधरी, ब्यावर

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर—केसरीसिह जी का गुडा

३९ शा० सपतराज जी चौरडिया, मद्रास

४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास

४१ शा० भीकमचन्द जी चौरडिया, मद्रास

४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे

४३ शा० जव्वरचन्द जी गोकलचन्द जी कोठारी, ब्यावर

४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचन्द जी गादिया, लाविया

४५ श्री सुेसमल जी धारीवाल, वगडीनगर (राज०)

४६ जे० नौरतमल जी बोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१

४७ उदयचन्द जी नौरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी विरधीचन्द जी मूथा, मेवाडी बाजार ब्यावर

४८ हस्तीमल जी तपस्वीचन्द जी नाहर, पो० कौसाना (जोधपुर)

४९ श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-बाजार रोड, मद्रास

७६ शा० वी० राजनराजजी पीपाडा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)

७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे न० ४५८६७७/१४१भवानी शकर रोड वीसावा विल्डिंग, दादर वोम्बे न० २८

७८ शा० मिश्रीमलजी वीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)

७९ शा० किसोरचन्द जी चादमलजी गोलकी C/o K C Jain 14 M C Lain II Floor 29 Cross Kilai Road Banglore 53

८० शा० निरमलकुमारजी मागीलाल जी खीवसरा ७२ धनजी स्ट्रीट पारसी गली, गनपत भवन, वम्बई ३

८१ श्रीमती सोरमबाई धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास

८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (वोपारी) मु० पो० खरतावाद हैदरावाद ५०००४

८३ शा० सुगालचन्द जी उतमचन्दजी कटारीया रेडीलस, मद्रास ५२

८४ शा० जवरीलालजी लुकड (कोटडी) C/o घमडीराम सोहनराज अन्ड क० ४८६/२ रेवड़ी वाजार अहमदावाद-२

८५ शा० गौतमचन्द जी नाहटा (पीपलीया) न० ८, वाटु पलीयार कोयल स्ट्रीट साहुकार पेट, मद्रास १

८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलका वेगलोर (नार्थ)

८७ शा० मदनलालजी छाजेड मोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट,कोयम्वतूर (मद्रास)

८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्द्राबाद (A P)

८९ शा० एम० पुकराजजी अण्ड कम्पनी क्रास वाजार दूकान न० ९, कुनूर (नीलगिरी)

९० शा० चम्पालालजी मूलचन्दजी नागोतरा सोलकी मु० पोस्ट—राणा वाया-पाली (राजस्थान)

९१ शा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली) C/o लक्ष्मी इलैक्ट्रीकल्स न० ९५ नेताजी सुभाषचन्द रोड, मद्रास १

१९ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचन्द जी नाकरिया, नाडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखबाजी नाकरिया, नाडेराव
२१ श्री बाबूलाल जी दगीचन्द जी बरलोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मागीलाल जी मोहनराज जी राठोड, सोजत रोड
२३ श्री मोहनलाल जी गांधी, केसरसिंह जी का गुडा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भगाली, जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचन्द जी बोकडिया, पाली
२६ श्री चान्दमल जी हीरालाल जी बोहरा, ब्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा, पाली
२८ श्री नेमीचन्द जी भवरलाल जी टक, सारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, नाडेराव
३० श्री निहालचन्द जी कपूरचन्द जी, नाडेराव
३१ श्री नेमीचन्द जी शातिलाल जी सिमोदिया, इन्द्रावड
३२ श्री विजयराज जी आणदमल जी सिसोदिया, इन्द्रावड़
३३ श्री लूणकरण जी पुखराज जी लूकड, बिग-बाजार, कोयम्बतूर
३४ श्री किस्तूरचन्द जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उड़ीसा)
३५ श्री मूलचन्द जी बुधमल जी कोठारी, बाजार स्ट्रीट, मन्डिया (मैसूर)
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी कॉकरिया, मद्रास (मेडतासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचन्द जी गॉधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
३९ श्री अनराज जी बादलचन्द जी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचद जी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दीपचद जी कोठारी, खवासपुरा
४२ शा० सालमसीग जी ढाबरिया, गुलाबपुरा
४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, बगडीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचंद जी काठेड ब्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचन्द जी खीवसरा, बैंगलोर-३०
४६ शा० पी० एम० चौरडिया, मद्रास
४७ शा० अमरचन्द जी नेमीचन्द जी पासमल जी नागौरी,, मद्रास

७५ शा० मगराज जी रूपचन्द खीवसरा C/o रूपचन्द-विमलकुमार पो० पेरमपालम. जिला चगलपेट

७६ शा० माणकचन्दजी भवरीलाल जी पगारिया C/o नेमीचद मोहनलाल जैन १७ विन्नी मिल रोड वेगलोर ५३

७७ शा० ताराचद जी जवरीलाल जी जैन कन्दोई बाजार जोधपुर (महामन्दिर)

७८ शा० इन्दरमलजी भण्डारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचन्दजी पोकरणा १९ गोडाउन स्ट्रीट-मद्रास १

८० शा० चम्पालालजी रतनचन्दजी जैन (मेवाज)
C/o सी० रतनचन्द जैन—४०३/७ बाजार रोड रेडीलम—मद्रास ५२

८१ शा० मगराजजी माधोलालजी कोठारी मु० पो० बोरुदा वाया पीपाड सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराजजी चम्पालालजी नाहर C/o चन्दन इलक्टरीकल ६६५ चीकपेट, वेगलोर ५३

८३ शा० नथमलजी पुकराजजी मीठालालजी नाहर C/o हीराचन्द नथमल जैन No ८९ मैनरोड मुनीरडी पालीयम—वेगलोर—६

८४ शा० एच० मोतीलालजी सान्तीलालजी समदरिया सामराज पेट नं० ९८/७ क्रोस रोड, वेगलोर १८

८५ शा० मगलचदजी नेमीचदजी वोहरा C/o भानीराम गणेसमल एण्ड सन्स H० ५६ खलास पालीयस बेंगलोर—२

८६ शा० धनराजजी चम्पालालजी समदरिया जी० १२९ मीलरोड वेगलोर—५३

८७ शा० मिश्रीलालजी फूलचन्दजी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन, सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालालजी दीपचन्दजी सीगी (सीरीयारी) C/o दीपक स्टोर—
हैदरगुड़ा ३/६/२९४/२/३ हैदराबाद (A P)

९० शा० जे० बीजेराजजी कोठारी W50 कीचयालेन काटन पेट वेगलौर—५३

९१ शा० वी० पारसमलजी सोलकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्बतूर

९२ सा० कुशालचन्दजी नेमीचन्दजी सुराणा ७२९ सदरबाजार बोलारम (आ० प्र०)

९३ सा० प्रेमराजजी भीकमचन्दजी खीवसरा मु० पो० बोपारी वाया गणावास

९४ सा० पारसमलजी डक (नारन) C/o मायचन्दजी पारसमल जैन म० नं० १२/५/१४८ मु० पो० लालागुडा सिकन्द्राबाद (A. P.)

९५ सा० सोभाचन्दजी प्रकाशचन्द जी गुगलीया C/o जुगराज हीराचन्द एण्ड क० मार्केट—दावनगिरी—कर्णाटक

९६ श्रीमती सोभागनीजी राका C/o भवरलालजी राका मु० पो० ब्यावर

९७ श्रीमती निरमलादेवी राका C/o वकील भवरलालजी राका मु० पो० ब्यावर

९८ सा० जम्बूकुमार जैन दालमील भैरो बाजार बेलनगज आगरा—४

९९ सा० मोहनलालजी-मेडतीया सिंहपोल मु० पो० जोधपुर

१०० भंवरलालजी श्यामलालजी बोरा ब्यावर

१०१ [illegible] पाली (मारवाड)

१०२ सम्पतराजजी जयचन्दजी सुराणा पाली मारवाड (सोजत)

१०३ [illegible] पाली मारवाड

१०४ B. [illegible] (बीलाडा)

१०५ [illegible], [illegible] पूना

१०६ [illegible] कुमारजी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)

७५ शा० मगराज जी रूपचन्द खीवसरा C/o रूपचन्द-विमलकुमार पो० पेरमपालम, जिला नगलपेट

७६ सा० माणकचन्दजी भवरीलाल जी पगारिया C/o नेमीचद मोहनलाल जैन १७ बिन्नी मिल रोड बेंगलोर ५३

७७ शा० ताराचद जी जवरीलाल जी जैन कन्दोई बाजार जोधपुर (महामन्दिर)

७८ शा० उन्दरमलजी भण्डारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचन्दजी पोकरणा १६ गोडाउन स्ट्रीट-मद्रास १

८० शा० चम्पालालजी रतनचन्दजी जैन (मेवाज)
C/o सी० रतनचन्द जैन—४०३/७ बाजार रोड रेडीलम—मद्रास ५२

८१ शा० मगराजजी माधोलालजी कोठारी मु० पो० बोरुदा वाया पीपाड सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराजजी चम्पालालजी नाहर C/o चन्दन इलक्टरीकल ६६५ चीकपेट, बेंगलोर ५३

८३ शा० नथमलजी पुकराजजी मीठालालजी नाहर C/o हीराचन्द नथमल जैन No ८६ मैनरोड मुनीरडी पालीयम—बेंगलोर—६

८४ शा० एच० मोतीलालजी सान्तीलालजी समदरिया सामराज पेट नं० ६८/७ क्रोस रोड, बेंगलौर १८

८५ शा० मगलचदजी नेमीचदजी बोहरा C/o भानीराम गणेसमल एण्ड सन्स H० ५६ खलास पालीयस बेंगलौर—२

८६ शा० धनराजजी चम्पालालजी समदरिया जी० १२६ मीलरोड बेगलोर—५३

८७ शा० मिश्रीलालजी फूलचन्दजी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन, सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालालजी दीपचन्दजी सीगी (सीरीयारी) C/o दीपक स्टोर—
हैदरगुड़ा ३/६/२६४/२/३ हैदराबाद (A P)

९० शा० जे० बीजेराजजी कोठारी W5U कीचयालेन काटन पेट बेगलौर—५३

९१ शा० बी० पारसमलजी सोलकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्बतूर

९२ शा० कुशालचन्दजी गीम्रवचन्दजी मुराण। ३२६ नदरबाजार बोलारम (आ० प्र०)

९३ शा० प्रेमराजजी भीकमचन्दजी खींवसरा मु० पो० बोपारी वाया राणावास

९४ शा० पारसमलजी डक (नारन) C/o सायबचन्दजी पारसमल जैन म० न० १२/५/१४८ मु० पो० नालागुडा निजामाबाद (A P.)

९५ शा० सोभाचन्दी प्रकाशचन्द जी गुगलीया C/o जुगराज हीराचन्द एण्ड क० मण्डीपेट—दावनगिरी —कर्णाटक

९६ श्रीमती सोभारानीजी राका C/o भवरलालजी राका मु० पो० व्यावर

९७ श्रीमती निरमलादेवी राका C/o वकील भवरलालजी राका मु० पो० व्यावर

९८ शा० जम्बूकुमार जैन दालमील भैरो वाजार वेलनगज आगरा—४

९९ शा० सोहनलालजी-मेडतीया सिहपोल मु० पो० जोधपुर

१०० भवरलालजी श्यामलालजी बोरा व्यावर

१०१ चम्पालालजी काटेड पाली (मारवाड)

१०२ सम्पतराजजी जयचन्दजी सुराणा पाली मारवाड (सोजत)

१०३ हीराललजी खावीया पाली मारवाड

१०४ B चैनराजजी तातेड अलसुर वेगलोर (वीलाडा)

१०५ रतनलालजी घीमुलालजी समदडीया, खड़की पूना

१०६ श्री० नितन्द्र कुमारजी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)

हमारा महत्वपूर्ण साहित्य

प्रवचन-सुधा	५)
प्रवचन-प्रभा	५)
धवल ज्ञान धारा	५)
साधना के पथ पर	५)
जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेपण	१५)
दशवेकालिक सूत्र [व्याख्या पद्यानुवाद]	१५)
तकदीर की तस्वीर	—
कर्मग्रन्थ [प्रथम—कर्मविपाक]	१०)
कर्मग्रन्थ [द्वितीय—कर्मस्तव]	१०)
कर्मग्रन्थ [तृतीय—वन्ध-स्वामित्व]	१०)
तीर्थंकर महावीर	१०)
विश्वबन्धु वर्धमान	१)
सुधर्म प्रवचनमाला [१ से १०]	६)
[दस श्रमण-धर्म पर दस पुस्तकें]	

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति,

पीपलिया बाजार, ब्यावर